

महाभारत

के पात्रों का आध्यात्मिक
प्रतीकात्मक स्वरूप



डॉ. लक्ष्मी नारायण धूत

महाभारत के पात्रों का आध्यात्मिक प्रतीकात्मक रूपरूप

लक्ष्मीनारायण धूत

समर्पित

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति
में रुचि रखने वाले महानुभावों को

महाभारत के पात्रों का आध्यात्मिक/प्रतीकात्मक स्वरूप

लेखक
लक्ष्मीनारायण धूत

प्रकाशन वर्ष : 2020
प्रकाशक : लेखक स्वयं
सर्वाधिकार सुरक्षित : प्रकाशकाधीन

सम्पर्क : प्रो. एल.एन. धूत
3 श्रीपुरम् (रानाडे कम्पाउंड एक्स.),
ओल्ड पलासिया, इन्दौर-452018
मोबाइल : 8871420820
फोन: 0731-2556144

पद्मश्री प्रो. श्री रमेशचन्द्र शाह एम-४, निराला नगर, भद्रभदा
रोड, भोपाल (म.प्र.)

एक प्रांसगिक पुनर्पाठ महाभारत के पात्रों का

यह पुस्तक लेखक की पिछली गीता—केन्द्रित पुस्तक की ही तरह हिन्दी पाठकों के लिए अपूर्वानुमेय ढंग से रुचिकर और विचारोत्तेजक सिद्ध होगी क्योंकि यह महाभारत के पात्रों को समझने—समझाने के एक ऐसे दृष्टिकोण से प्रेरित है जो भारतीय वाइमय की आधारभूत तत्त्वदृष्टि से सर्वथा संगत होते हुए भी लीक से हटकर और समकालीन जिज्ञासु पाठकों की सहजबुद्धि को ही नहीं—तथाकथित आधुनिक जीवन और अनुभव की विकट चुनौतियों से रूबरू उनकी संशयग्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ मनःस्थितियों को भी सम्बोधित जान पड़ती है। दूसरे शब्दों में, यह महाभारत को उसके सुप्रसिद्ध चरित्रों को लेकर जैसी जो कुछ भी समझ हमारी संस्कार के स्तर पर और जो कुछ भी उनको लेकर नया—पुराना सोचा—लिखा गया है—उसके कारण बनी है—उसे लेकर आत्मतुष्ट नहीं होने देती, बल्कि फिर से मूल को मूल की तरह पढ़ने और उससे उसी तरह प्रतिकृत होने की जरूरत को हमारे भीतर उकसाती है जिस तरह महाभारतकार व्यास को अभीष्ट रहा होगा।

जरूरी नहीं कि हम लेखक द्वारा प्रस्तुत हर चरित्र की व्याख्या से सहमत हो हीं, कई जगह यह व्याख्या उसे दुरारुढ़ और असंतोषजनक भी लग सकती है—जैसे युधिष्ठिर या नकुल—सहदेव पर, अधिकांशतः तो यही छाप मन पर पड़ती है कि लेखक को अभीष्ट इन लोकविश्रुत चरित्रों का प्रतीकात्मक—आध्यात्मिक स्वरूप ही बुनियादी महत्व रखता है : 'लेखक का निवेदन' में इस दृष्टि का औचित्य दर्शाने के लिये जो बात कही गई है, वह पुरानी होते हुए भी हमें नई लगती है, इसलिए कि अतिपरिचय और अभ्यस्ति ही हमें यथार्थ को यथार्थ की तरह हृदयंगम करने में आड़े आ जाते हैं। जीवन और मानव स्वभाव की यह भी एक विडम्बना है। कहना न

होगा कि इस पुस्तक की एक खूबी यह जान पड़ती है कि वह हमें इस विडम्बना से उबारने का उपक्रम करती है और इसमें कृतकार्य भी हुई है। इस सिलसिले में पहला ही लेख **भीष्म पितामह** पर अतीव संतोषप्रद है और आगे की सामग्री के बारे में भी उसकी प्रासंगिकता और नए सिरे से खोजी गई अर्थवत्ता का भी यथेष्ठ पूर्वाभास पाठक को करा देता है।

न केवल गंगा, शान्तनु, भीष्म और आठ वसुओं के प्रतीकार्थ इस पुस्तक के पहले ही खंड में पाठक को सुखद विस्मय प्रदान करते हुए नया अर्थोन्मेष जगाते हैं, बल्कि लेखक का यह विश्वास और तदनुकूल कार्य भी, कि महाभारतकार को जो भी कहना था, उसे उसने साररूप में गीता में रख दिया है। चौंकाना लेखक का उद्देश्य नहीं है, किन्तु उसकी यह बुनियादी धारणा जिस तरह के परिणाम इस पुस्तक में उपजाती है, मात्र सहमति-असहमति के आर-पार उनकी मूल्यवत्ता निस्संशय है। प्रतीकार्थों को न समझने से होने वाली हानि को लेखक ने जिस तरह दर्शाया है, वह महाभारत के पुराने और नए दोनों प्रकार के व्याख्याताओं के लिए मननीय है।

अन्त में यही कहना या कि दुहराना होगा कि पारम्परिक श्रद्धा और आधुनिक आग्रहों से परिचालित बुद्धि-दोनों को सम्बोधित और न्यूनाधिक दोनों से प्रेरित लक्ष्मीनारायण धूत की यह पुस्तक सभी तरह के पाठकों के लिए उपयोगी साबित होगी। साथ ही, यह महाभारत को आज के इस भूमंडलीय विश्व में नये सिरे से पढ़ने और उससे नये ढंग से प्रतिकृत होने की उजली संभावनाओं की राह भी प्रशस्त करेगी। अलमति विस्तरेण...।
अस्तु

(रमेशचन्द्र शाह)

महाभारत के पात्रों का प्रतीकात्मक /आध्यात्मिक स्वरूप-एक सार्थक प्रयास

महाभारत का महाकाव्य विश्व साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। 'यन्न भारते तन्न भारते' की कहावत का महत्व सदियों बाद भी बना हुआ है। इसमें लगभग एक लाख श्लोक हैं। कुल शब्दों की संख्या तो कई लाख है। इस तरह यह संसार का सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखक का लक्ष्य केवल मात्र किसी वंश-विशेष का इतिहास लिखना ही नहीं हो सकता। यद्यपि इसकी कथाएँ हमारे रगों में इतनी बसी हुई हैं कि इसकी ऐतिहासिकता के अतिरिक्त कोई और अर्थ निकालने के प्रयास पर प्रश्न खड़ा किया जा सकता है।

लेकिन इस ग्रन्थ के रचयिता व्यासजी ने इसमें जो आध्यात्मिक रहस्य छिपा रखे हैं, वे सहज ही प्रकट नहीं होते। जिस ग्रन्थ में 'गीता' समाई हुई है उसमें अध्यात्मिकता होना ही है। ईशावस्योपनिषद् के १५वे मंत्र में कहा गया है "सत्य का मुख सोने के पात्र से ढंका हुआ है यह सत्य के अनुसंधानकर्ता के लिए ही खुलता है और इसके लिए परमात्मा की कृपा चाहिए" "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई"

लेखक ने इस पुस्तक में महाभारत की कथा राजा शान्तनु से प्रारम्भ कर पाँडवों के हिमालय पर गलने तक संक्षिप्त रूप से समेटी है। जिस पाठक को कथा भर जानना अथवा दोहराना अभीष्ट है वह भी अपनी संतुष्टि कर सकता है।

इससे आगे जो पाठक महाभारत के आध्यात्मिक भावों को ग्रहण करने का अभिलाषी है, उसकी तृप्ति के लिए तो लेखक का मूल लक्ष्य है ही।

हाँ, लेखक ने जिस पात्र के लिए जो प्रतीक चुना है उससे पाठक की

राय अलग हो सकती है। लेखक का मूल भाव यह है कि हम इस दिशा में भी अपने चिंतन को प्रेरित करें। हम यह मानते हैं कि किसी विषय पर अन्तिम वाक्य अभी तक किसी ने नहीं कहा।

लेखक ने भीष्म व कर्ण के जीवन को बहुत ही सूक्ष्मता से चित्रित किया है। जिन त्यागमय महान् प्रतिज्ञाओं के कारण देवब्रत ‘भीष्म’ कहलाए तथा उन्हीं प्रतिज्ञाओं से शक्ति पाकर दुर्योधन की दुष्टता निरुक्तुश होती गई व अन्ततः द्रौपदी के चीर-हरण की घटना घटित हुई। यहाँ भी भीष्म मौन धारण कर बैठे रहे। इसके पूर्व भी पाँडवों को नष्ट करने के जो-जो षड्यंत्र कौरवों द्वारा रचे गए उनमें से किसी को भी भीष्म रोक नहीं पाए क्योंकि उन्होंने और प्रतिज्ञाओं के साथ राज्य की रक्षा की भी प्रतिज्ञा जो कर रखी थी।

रामकथा में इसी प्रकार का एक संक्षिप्त उदाहरण जलन्धर की कथा है जहाँ जलन्धर अपनी पतिव्रता पत्नी वृद्दा के तप से शक्ति पाकर अत्याचार बढ़ाता चला गया।

श्रेष्ठजनों का आचरण जब दुष्ट व अत्याचारियों का ढाल बन जाता है तो परमात्मा को आगे आना पड़ता है।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलन्धर सन सब हारे॥

संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा॥

परम सती असुराधिप नारी। तेहिं बल ताहि न जितहिं पुरारी॥

छल करि टारेउ तासु बल प्रभु सुर कारज कीन्ह।

जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥ रा.च.मा. १/१२३

भीष्म अपनी प्रतिज्ञा के निर्वहन के अहम् में जकड़े रहे, जबकि श्रीकृष्ण युद्ध में भाग न लेने की अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर धर्म की रक्षा हेतु रथ का पहिया लेकर भीष्म की ओर दौड़ पड़े।

भीष्म की अहम् से मुकित उनके जीवन में ‘उत्तरायण’ आने पर ही हुई। उत्तरायण का उपयुक्त अर्थ लेखक ने विस्तार पूर्वक दिया है। शर-शैय्या पर पड़े भीष्म ने अपने अन्तिम क्षणों में द्रौपदी के प्रश्न करने पर यह

स्वीकार भी किया है।

कर्ण के मरण में भी श्रीकृष्ण को दखल देना पड़ा। कर्ण के रथ का पहिया फँस जान पर निहत्थे कर्ण पर अर्जुन तो वार करना नहीं चाहता था, परंतु श्रीकृष्ण की प्रेरणा थी कि जिसने अन्यायियों का साथ दिया हो उसको इस दशा में भी मारना अर्धम नहीं होगा।

एक श्रेष्ठ योद्धा व अद्वितीय दानी जैसे दुर्लभ गुणों से विभूषित जीवन में भी अर्जुन के प्रति द्वेष की भावना की अग्नि धधक रही थी। उसको और हवा देते रहने के लिए कर्ण जैसा व्यक्ति अर्धमियों के साथ हो गया। यह 'अहम्' की ही तुष्टि थी।

पाँचों पांडव भाइयों को लेखक ने पंचकोशों का प्रतीक माना है।

कुछ लेखकों ने इन्हें पंच-तत्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी) का प्रतीक माना है।

लेखक ने 'उत्तरायण' शब्द की तरह 'नियोग' शब्द की भी आध्यात्मिक परिभाषा दी है। लेखक ने व्याख्या की है योग का अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा से मिलन अतः नियोग का अर्थ है जीवात्मा का संसार के साथ लिप्त होना।

लेखक डॉ. लक्ष्मीनारायण धूत ने पुस्तक लेखन में सार्थक परिश्रम किया है। अनेक ग्रन्थों का सन्दर्भ उपलब्ध कराया है। अपने स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान द्वारा समाज को लाभान्वित करने की उनकी अभिलाषा सफल हुई है, मेरी यह धारणा दृढ़ हुई है। आशा है सुधी पाठक इस पुस्तक से अवश्य लाभान्वित होंगे।

जमनाशंकर ठाकुर

आई.डी. खत्री

I.A.S. Retd.

कार्यकारिणी सदस्य

महर्षि अगस्त्य वैदिक संस्थानम्, भोपाल

HIG-5A, गणपति एन्कलेव

कोलार रोड,

भोपाल-४६२०१६ (म.प्र.)

महाभारत के कथानक की नई दृष्टि से व्याख्या व सीख

श्री लक्ष्मीनारायण धूत की नवीन पुस्तक 'महाभारत के पात्रों का प्रतीकात्मक/आध्यात्मिक स्वरूप' बड़ी अद्भुत व ज्ञानवर्धक पुस्तक है। इसमें महाभारत के पात्रों व घटनाओं का जो वर्णन किया गया है वह बड़ा लीक से हट कर, तार्किक व मन-बुद्धि को सन्तुष्टि करने वाला तो है ही साथ में वह भारतीय परम्परा, संस्कृति व मूल्यों के अनुकूल भी है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है श्री धूत विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं व विज्ञान के ही प्रोफेसर भी रहे। उन्होंने महाभारत के पात्रों का आध्यात्मिक व विज्ञान सम्मत वर्णन करने की पूरी चेष्टा की है व अपने परिश्रम, चिन्तन व मनन को व्यक्त करने में पूरी रह से सफल रहे हैं। वे महाभारत के कथानक को समझने की नवीन दृष्टि प्रदान करते हैं।

भीष्म के चरित्र का जो आध्यात्मिक विवरण पुस्तक में दिया गया है वह गीता व उपनिषदों द्वारा उद्घोषित सत्यों पर आधारित है। भीष्म का चरित्र व उसके जीवन की विभिन्न घटनाओं के तार्किक अर्थ की आवश्यकता थी। उनका जन्म, उनकी प्रतिज्ञा का कारण व महत्व उनका आचरण, युद्ध में उनके द्वारा अपनाई गई नीति, बाण शय्या पर उनका मृत्यु का वरण व उसका महिती कारण— इन सबका सही-सही उत्तर प्राप्त किये बिना उनको समझना असम्भव था। इनका पूरा मार्मिक समाधान पुस्तक में दिया गया है। महाभारत की कथाओं का मूल उद्देश्य, मानव जीवन की कमियों को दूर करते हुए ऊँचा उठाना व उसके सांसारिक व आध्यात्मिक जीवन को शनैः शनैः विकसित करना है। भीष्म के चरित्र विश्लेषण का पुस्तक में दिये गये विवरण को पढ़े बिना, आत्मसात किये बिना, समझना सम्भव नहीं रहा है।

इसी तरह अन्य पात्रों व घटनाओं का विवरण एक नई दृष्टि को सामने प्रस्तुत करता है। यह नई दृष्टि काल्पनिक न होकर गीता व उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान पर आधारित है। इस कारण जैसे—जैसे हम पात्रों का चरित्र विवरण पढ़ते हैं वैसे—वैसे हम नये दृष्टिकोण को सम्मुख पाते हैं, जो हमें सुखद आश्चर्य के धरातल पर ले जाता है व लेखक द्वारा प्रस्तुत विवरण को स्वीकार करने को विवश करता है। हो सकता है युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव की उपमाओं से कुछ पाठक असम्मत हों, किन्तु अन्य पात्रों यथा श्रीकृष्ण, द्रोषदी, गान्धारी, कुन्ती, माद्री, धृतराष्ट्र, कर्ण व अन्य का जो आध्यात्मिक चरित्र चित्रण किया गया है वह लेखक के दीर्घ सोच, चिन्तन, मनन का परिणाम है, यह स्पष्ट होता है।

महाभारत के कथानक को सभी भारतीयों ने पूर्व में सुना, पढ़ा या दूरदर्शन पर देखा है। उसकी कथा को साधारण समझ कर सन्तोष करना सुधी—जन, विद्वानों व मनीषियों को कभी स्वीकार नहीं था। वे कथाओं के मूल को जानना चाहते थे। पहले भी यह प्रयास हुआ है कि कथाओं के गूढ़ अर्थ को समझा जावे। कई विद्वानों व कथावाचकों ने कुछ सूत्र पकड़ कर इसका प्रयास भी किया है, किन्तु जो दृष्टि लेखक ने प्रस्तुत की है वह एकदम नवीन है। साथ ही वह पाठक को सही स्वीकार करने को विवश करती है। इस नवीन दृष्टि के सामने आने के बाद भविष्य में कथानक की व्याख्या को, विद्वानजन और आगे बढ़ाएंगे।

लेखक ने जो परिश्रम किया है उसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं। पुस्तक को एक बार पढ़ने से सन्तोष नहीं होता। इसे बार-बार पढ़कर महाभारत के मूल सार, अर्थ, सन्देश व अपनाई जाने वाली शिक्षा को समझने का मन करता है। यह पुस्तक विलक्षण है इसे पढ़ा व संग्रह किया जाना चाहिये व आने वाली पीढ़ियों को समझाया जाना चाहिये।

(आई.डी. खत्री)

लेखक का निवेदन

पुस्तक की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में

‘महाभारत’ को पांचवां वेद माना गया है और ग्रंथ की भूमिका में इसे चारों वेदों से भी अधिक गरिमावान घोषित किया गया है (१.१.२७२)। ऋषियों ने इसे पुराण और इतिहास दोनों कहा है। (१.१.१७, १९) किंतु कथा के लगभग सभी प्रमुख पात्रों की उत्पत्ति दैविक अथवा परामानवीय बतलाई गई है जिससे इंगित होता है कि कथा को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया गया है। वस्तुतः हमारे प्राचीन वैदिक और पौराणिक साहित्य में मनुष्य के जीवन को ऊँचा उठाने के लिये, उसे आत्मनिष्ठ/सर्वनिष्ठ बनाने के लिए, कथाओं का स्वरूप इसी प्रकार का रचा गया है। इस हेतु ऋषियों ने कथाओं में पात्रों और घटनाओं को इतिहास, भू॒गोल, खगोल, अर्थशास्त्र, आयुर्विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विभिन्न क्षेत्रों से लेकर उनका रूपान्तरण इस दृष्टि से किया है कि कथा पाठक को आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ाने में सहायक हो। किंतु आगे बढ़ने से पूर्व हमारा अध्यात्म शब्द से क्या तार्य है, इसका स्पष्टीकरण कर लेना उचित होगा।

अध्यात्म = अधि+आत्म, आत्म=अपना तथा उपर्सा ‘अधि’ भावार्थ देता है—‘सम्बन्धित’, इस प्रकार ‘अध्यात्म’ का अर्थ होता है ‘अपने से सम्बन्धित’। अतः कथा के आध्यात्मिक होने का अर्थ है इसके पात्र और घटनायें हमारे अन्दर के चेतना स्तर (प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, वृत्तियें आदि) और उनके क्रियाकलापों को निरूपित करते हैं। इस दृष्टि से हम कथा के प्रमुख पात्रों का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

समीक्षा के प्रकाश में पाठक कृपया विषय-वस्तु ग्रहण करें

अधिकांश पाठक महाभारत की कथा से खूब परिचित हैं—इतना अधिक कि विद्वान समीक्षक पद्मभूषण डॉ. शाह ने उसके लिये ‘अति-परिचय’ शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि यह खूबी ही हमें महाभारत ग्रंथ के रचनाकार के मन्तव्य तक पहुँचने में आड़े आ जाती है। हम कथा के ऐतिहासिक स्वरूप पर ही अटक जाते हैं, जबकि ग्रंथकार ने उसे इतिहास-पुराण कहा है (आदि पर्व, १-१९)। पुराण कहकर उसके जिस आध्यात्मिक सत्य को इंगित किया गया था उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। प्रस्तुत पुस्तक में हमने कथा में अनुष्ठूत उसी स्वरूप को समझने का प्रयास किया है। आशा है, पाठक इतिहास के आवरण रूप भूसी को अलग कर उसमें वर्णित मानव जीवन के मानसिक और आध्यात्मिक पक्षों से कथा हमें जो परिचित करा रही है उसे ही हमें ग्रहण कर अपने जीवन को उन्नत करने का प्रयास करना चाहिये।

अनुक्रमणिका

पात्र	पृष्ठांक
1. भीष्म पितामह	1
भीष्म की उत्पत्ति कथा (पृष्ठ 1), गंगा, शान्तनु, भीष्म और आठ वसु (2) भीष्म का जीवन चरित्र (3), भीष्म को जीवन-लक्ष्य की ज्ञान प्राप्ति (5), कहानी का हमारे लिये आध्यात्मिक सन्देश (6), प्रतीकार्थों को न समझने से होने वाली हानि (6), सारांश (7)	
2. कौरव-पांडवों के पितृपुरुष	8
1. वंश वृक्ष के आदि पुरुष व्यास की उत्पत्ति कथा का तत्त्वार्थ (8), 2. व्यास का 'नियोग', धूतराष, पांडु और विदुर की उत्पत्ति कथा (9), 3. प्रकृति के गुणों की प्रबलता/दुर्बलता का कथा में निरूपण (10), 4. बुद्धिरूपा प्रकृति के त्रिगुणी स्वरूप : गान्धारी, कुन्ती, माद्री (10), 5. बुद्धिगत चेतना के त्रिगुणी स्वरूप : धूतराष्ट्र, पांडु, विदुर (13)- धूतराष्ट्र-(14), पांडु-(16), विदुर (17)	
3. देव पुत्र पांडव	18
पूर्व कथाओं का सार कथन (18), 1. मनुष्य के पांचकोश : उनमें ज्ञान ऊर्जा का स्तर और मात्रा (18), 2. दैवी-गुणी मनुष्य के चेतना स्तरों का निरूपण पाण्डवों के रूप में (19), 3. पांडव पात्रों के प्रतीकार्थ को प्रकाशित करने वाले कुछ संकेत (20)- 3.1 आवाहित देवता और उनका क्रम (21), यम देवता से युधिष्ठिर (21), वायु देवता से भीम (22), इन्द्र देव से अर्जुन (22), अश्विनी देवों से नकुल-सहदेव (23)-3.2 शंखों के नाम : आध्यात्मिक अर्थ के संकेतक (24), 3.3 पांडवों का मरण क्रम (26)।	
युधिष्ठिर : अन्नमय कोश स्थित ऊर्ध्वगामी चेतना का निरूपण (28), प्रतीकार्थ के अनुरूप ही नाम (28), ज्येष्ठ होने का अर्थ (28), जूआ प्रतीक है जड़ प्रकृति के 'संयोग' नियम का (29), महत्वपूर्ण है जीवन में लक्ष्य का ज्ञान होना (30), धर्मारूढ़ व्यक्ति के सहायक देव स्वयं बन जाते हैं (31)	
भीम : प्राणमय कोश की चेतन शक्ति (32)	
अर्जुन : मनोमय कोश में क्रियाशील चेतना (34), तीन क्षमतायें - लक्ष्य के प्रति एकाग्रता, दृढ़ संकल्प, विचार मंथन (34)। पौरुष रूप अर्जुन के हिजड़ा रूप धारण करने का तत्त्वार्थ (35)	
नकुल-सहदेव : मनुष्य को प्राप्य ज्ञान-विज्ञान की शक्तियाँ (37 से 39)	
सूर्य पुत्र कर्ण : अहम रूप जीवात्मा का अपरिक्वर रूप (40), कर्ण के माध्यम से कुछ आध्यात्मिक तथ्यों पर प्रकाश (41), कर्ण और भीष्म (41 से 43), कर्ण के कवच	

और कुण्डलों का प्रतीकार्थ (44), कर्ण चरित्र द्वारा हमें प्रेषित सन्देश (45)।	
4. दौपदी और दुभ्रदा	46
शुभकर्म मनुष्य को मंगलमयी माया और भवित की भेट (46) द्वौपदी-पांडवों के प्रतीकार्थ को स्पष्ट करती कुछ घटनाएँ : हिमालय की अन्तिम यात्रा (48), द्वौपदी पांडवों का देवलौकिक सम्बन्ध (49), घटनाओं में व्यास के हस्तक्षेप का आध्यात्मिक संकेतार्थ (50)	
5. संसार चक्र को निरुपित करने वाले पात्र	51
द्वोणाचार्य (51), उत्कृष्ट गुणों के बीच आसक्ति रूप एक कमी का चित्रण करती दस घटनाएँ (52 से 57), सारांश और दिशावोध (58)	
मद्राज शल्य : एक अति स्वार्थी व्यक्तित्व का चित्रण (59 से 64)	
6. कुछ निम्नकोटि के पात्र	66
धृतराष्ट्र और उसके पुत्र (66), धृतराष्ट्र के सौ और एक पुत्र-उपनिषदीय विवेचना (69) शकुनि - एक धूर्त और घोर तामसिक व्यक्तित्व (71 से 73)	
अश्वत्थामा - एक निकृष्टतम चरित्र (74 से 80), उसके सहयोगी कृपाचार्य और कृत वर्मा (80), नृशंस हत्याकांड के वर्णन द्वारा मानवता को प्रेषित सन्देश (81 से 83)	
7. आत्म जाग्रत धर्म संस्थापक महापुरुष श्रीकृष्ण	84
इतिहास के महापुरुष, पुराणों के अवतार पुरुष, अध्यात्म के महेश्वर (84), महाभारत में वर्णित ऐतिहासिक घटनायें : प्रथम हस्तक्षेप - सत्य पर आरुढ़ पांडवों को धृतराष्ट्र से खांडवप्रस्थ प्रदेश का भूभाग दिलाना (85), द्वितीय हस्तक्षेप (86) : उस उजाड़ दस्युग्रस्त क्षेत्र को शक्ति सम्पन्न साम्राज्य बनाने हेतु-१ खांडव वन को आतंकियों और लुटेरों से मुक्त करके उसे उत्पादक क्षेत्र में परिवर्तित किया गया (86), २. राजा जरासंध के आतंकी शासन का नाश करवाकर और उसके पुत्र को राज्य पर बैठाकर सहयोगी मित्र राज्य बना दिया गया (86), ३. अन्य राज्यों से संघित अथवा उन पर विजय (87), ४. बलशाली और अहंकारी चेदि नरेश का नाश (87) और ५. अन्त में निर्णायक महाभारत युद्ध में विजय दिलाकर सम्पूर्ण बूझा में धर्मराज्य की स्थापना (88), नैतिक नियमों के हनन की तथाकथित आलोचना (89), श्रीकृष्ण का पूर्णितः निस्वार्थ जीवन जो केवल धर्मस्थापना को समर्पित था (90) उक्त आदर्श जीवन का आध्यात्मिक स्वरूप (90)	
8. प्रतीकातामक वर्णन द्वारा घटनाओं का आध्यात्मिक रूपान्तरण	91
१. हस्तिनापुर (91), २. खांडव प्रस्थ की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (92), ३. खांडव वन दहन (93), ४. तक्षक नाग प्रतीक है अहंकार का (94), ५. जरासंध : व्यक्ति की प्राणिक चेतना (94 से 97), ५. शिशुपाल : अहम के विकृत हो जाने की समस्या का निरूपण (98-101)	

भीष्म पितामह

महाभारत कथा के पात्रों के प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को समझने के प्रयास के अन्तर्गत हम सर्वप्रथम भीष्म पितामह नाम से प्रसिद्ध पात्र का अध्ययन करेंगे।

भीष्म की उत्पत्ति कथा

भीष्म राजा शान्तनु की प्रथम पत्नी गंगा के पुत्र थे। पवित्र नदी गंगा मूर्तिमान होकर सुन्दर यौवना के रूप में प्रकट हुई थी और राजा शान्तनु की पत्नी होना उसने इस शर्त पर स्वीकार किया था कि उसके किसी भी कार्य पर राजा कोई आपत्ति नहीं करेंगे। भीष्म जिनका बाल्यकाल का नाम देवब्रत रखा गया था, शान्तनु-गंगा के आठवें पुत्र थे। प्रथम सात पुत्रों को गंगा जन्मते ही गंगा नदी में विसर्जित करती गई थी किंतु आठवें के जन्म के समय शान्तनु ने अन्तः जब आपत्ति ली तो गंगा उस पुत्र को राजा को सौंप कर अपनी शर्त अनुसार चली गई।

देवब्रत जब कुमारावस्था में थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। शान्तनु, जो गंगा के चले जाने से दाम्पत्य परित्यक्त होकर विशागी-सा जीवन जी रहे थे, उन्हें एक दिन अकस्मात् एक नाविक की अप्सरा-सी सुंदर कन्या, जो वातावरण को भी एक दिव्य गंध से सुवासित कर रही थी, खड़ी दिखाई दी। उस अलौकिक बाला, सत्यवती से विवाह के लिए इच्छुक हो वे उसके पिता से मिले। पिता ने शर्त रखी कि आपको राज्य का उत्तराधिकारी मेरी पुत्री से प्राप्त होने वाले पुत्र को बनाने का वचन देना होगा। यह वचन देना राजा ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि वैसा करना पुत्र देवब्रत के प्रति अन्याय होता। जब देवब्रत को यह बात ज्ञात हुई तो वे सत्यवती के पिता से मिले और उन्हें पूरी तरह संतुष्ट करने हेतु एक के बाद एक, तीन वचन दिये - १. मैं राज्य का उत्तराधिकार ग्रहण नहीं करूँगा, २. आजीवन विवाह ही नहीं करूँगा, और इस प्रकार जब मेरी कोई संतान ही नहीं होगी तो भविष्य में भी किसी प्रकार के उत्तराधिकार सम्बन्धी विवाद की कोई संभावना नहीं होगी, ३. इतना ही नहीं, सत्यवती के जो पुत्र होंगे

उन मेरे अनुजों की और उनके शासन की अर्थात् राज्य की रक्षा हेतु कृत-संकल्प रहूँगा।’ ऐसी भीषण प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने के कारण ही वे भीष्म कहलाने लगे।

उक्त कथा के रहस्य की कुंजी प्रदान करने हेतु एक अन्तर्कथा भी कही गई है जिसका सार यह है कि गंगा के ये आठ पुत्र आठ ‘वसु’ थे और इन्हें जन्म देने हेतु ही गंगा ने शरीर धारण किया था। इस परिज्ञान के प्रकाश में अब हमें इन पात्रों के प्रतिकार्थ का अन्वेषण करने का प्रयास करना होगा।

गंगा, शान्तनु, भीष्म और आठ वसु : इनके प्रतीकार्थ

कथा और उसके पात्रोंके प्रतिकार्थ पर पहुँचने के लिए हमें गीता में उसके सूत्र ढूँढ़ने होंगे क्योंकि महाभारत में लेखक को कहानी के माध्यम से जो कुछ कहना था उसे उसने सार रूप में गीता में रख दिया है ऐसी हमारी धारण बनी है। गीता में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में दो तत्त्व-पुरुष और प्रकृति-बताये गये हैं (१३.१९)। प्रकृति हैं भौतिक ऊर्जा जिसका संघनित रूप है जड़ या द्रव्य पदार्थ, और पुरुष है सर्वव्यापी चेतन शक्ति (consciousness) जो प्रकृति को नियंत्रित करते हुए, उसकी बेतरतीब रूप से क्रिया करने वाली भौतिक ऊर्जा को विकास के लिए रूपांतरित करती हुई सृष्टि का संचालन कर रही है। पुरुष रूप ज्ञान शक्ति द्वारा नियंत्रित प्रकृति के दो रूप बताये गये हैं— अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। इन दोनोंको भगवान ने ‘मेरी’ कहा है (७.४,५) क्योंकि ये भगवान द्वारा नियंत्रित हैं। सृष्टि के प्रारम्भ के क्षणों में प्रकृति और पुरुष के जो रूप थे उन्हें गंगा और शान्तनु के रूप में पात्र बनाकर प्रस्तुत किया गया है। महाविस्फोट (Big Bang) के बाद जो भौतिक ऊर्जा प्रवाहमान हुई उसे गंगा के रूप में चित्रित किया गया है और पुरुष (चेतन ऊर्जा) का जो शान्त (अक्रिय) रूप था उसे राजा शान्तनु के रूप में चित्रित किया गया है। उस चेतन सत्ता ने प्रकृति में जिन तत्त्वों, सृष्टि निर्माण में कारक तत्त्वों, को उत्पन्न किया (७.४, १४.३) उन्हें गीता में अष्टधा प्रकृति(पृथ्वी, जल, अनि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि, अहंकार) और कथा में आठ वसु कहा गया है।

मनुष्य में इन आठ तत्त्वों से पाँच इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, अहंकार इन रूपों में चेतन शक्ति को क्रियाशील बताया गया है। चेतन सत्ता के आठवें रूप-अहंकार का परिचय कराने के लिए देवब्रत (भीष्म) के रूप में एक ऐसा पात्र खड़ा किया गया है जिसमें अहंकार से पूर्व वाले सात स्तर अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि तो चेतन सत्ता के पूर्ण नियंत्रण में आ चुकी हैं अर्थात् अब उनकी स्वतंत्र क्रियाशीलता नहीं रही है, इसे कहानी में सात वसुओं के लय हो जाने से इंगित किया गया है, और अब 'अहंकार' पर नियंत्रण होना शेष है। वस्तुतः भीष्म नामक इस पात्र के माध्यम से व्यक्ति में चेतना के इस स्वरूप का और उसके उत्थान के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है।

भीष्म का जीवन चरित्र

हम ऊपर देख चुके हैं कि भीष्म प्रकृति से उत्पन्न तत्त्वों में आठवें तत्त्व अहंकार के मूर्त रूप हैं जिनमें पूर्व के सात तत्त्वों का शमन हो चुका है, उन पर विजय प्राप्त की जा चुकी है। वे इन्द्रियों को तथा मन और बुद्धि को भी जीत चुके हैं ये बात उनकी तीन प्रतिज्ञाओं से सिद्ध होती है। पिता का जीवन सुखी हो सके इस हेतु वे बिना झिझक जिस प्रकार राज्याधिकार को त्यागकर आजन्म अविवाहित रहने का व्रत ले लेते हैं वह इसी बात की पुष्टि करता है। वस्तुतः उनका जीवन संयम और बुद्धिगत ज्ञान से तो परिपूर्ण है, किन्तु 'अहंकार' के बादलों ने उस ज्ञान सूर्य को ढंक रखा है। यही कारण है कि हस्तिनापुर राज्य सिंहासन (राजा) की रक्षा करने के 'परिस्थिति विशेष' में कहे हुए वचन में वे ऐसे बंध जाते हैं कि उन्हें धर्म और न्याय की अपेक्षा अपने शब्दों की रक्षा करना अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। द्रौपदी के चीरहरण के समय द्रौपदी के प्रश्न करने पर भी वे किंकरत्वविमूढ़ रह जाते हैं और मन से धर्मात्मा पांडवों की विजय चाहते हुए भी युद्ध में वे अर्थर्मी कौरवों की सेना का नेतृत्व कर रहे होते हैं।

इच्छा-मृत्यु और उत्तरायण : आध्यात्मिक प्रतीकार्थ

महाभारतकार ने भीष्म चरित्र द्वारा एक और महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक

संदेश हमें सूचित किया है। भीष्म को इच्छा मृत्यु का वरदान और इसके द्वारा 'उत्तरायण' होने पर शरीर त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने की जो कहानी कही गई है वह निश्चय ही भौतिक (खगोलीय) उत्तरायण सम्बन्धी न होकर आध्यात्मिक अर्थ से युक्त है।

भौतिक अर्थ न केवल अतार्किक है वरन् कथा में अन्त्तविरोध और विसंगति पैदा करता है। कथा के अनुसार युद्ध के दसवें दिन भीष्म बाणों से बिंधकर जब रथ से पृथ्वी पर गिर जाते हैं तो उनके पूरे शरीर में बिंधे बाण मानो उन्हें 'शरशय्या' प्रदान करते प्रतीत होते हैं, फिर भी उस दशा में भी भीष्म प्राण त्याग नहीं करते और ५८ दिन बाद 'उत्तरायण' होने पर ही शरीर छोड़ते हैं।

इस कहानी को भौतिक अर्थ में लेने से यह गलत मान्यता बन गई है कि सूर्य जब उत्तरायण में होता है तो उस काल में शरीर त्यागने वाला व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है और दक्षिणायन में शरीर छोड़ने वाला पुर्नजन्म के फेर में पड़ता है। यह मान्यता गलत है और कर्म सिद्धांत के भी विपरीत है। उत्तरायण का शाब्दिक अर्थ है – ऊपर की ओर बढ़ना अथवा उन्नति का प्रवेश द्वारा। सूर्य का उत्तर दिशा में झुकना एक विशेष भौतिक घटना अवश्य है, किन्तु यहाँ आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका अर्थ होगा – आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होना। भीष्म के रूप में हमारे समक्ष एक ऐसा काल्पनिक व्यक्तित्व प्रस्तुत किया गया है जो प्रकृतिके सात स्तरोंको पार करके 'अहंकार' वाले आठवें स्तर को पार करने हेतु ही जिसने जन्म लिया है, अतः उस लक्ष्य की प्राप्ति ही उसका 'उत्तरायण' है। किन्तु भीष्म को भी, हमारे समान ही, अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में जन्म से ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। हमारा जीवन भी बहुधा बिना इस ज्ञान के ही व्यतीत होता है। किन्तु यदि जीवन स्वार्थमय न हो, तो ईश्वर कृपा से वह प्रकाश एक दिन अवश्य मिलता है। भीष्म को किस प्रकार वह प्रकाश मिला इसका सुन्दर वित्रण महाभारत में ही एक घटना के वर्णन के माध्यम से इंगित किया गया है।

भीष्म को जीवन-लक्ष्य की ज्ञान प्राप्ति

रणभूमि में भीष्म के धराशायी होने से एक दिन पूर्व की घटना है। दुर्योधन के कड़वे वचनों से आहत होकर भीष्म ने उस दिन अर्जुन पर भीषण बाण वर्षा की किंतु श्रीकृष्ण के रथ संचालन कौशल के कारण अर्जुन का बाल बांका न हुआ। तब भीष्म ने श्रीकृष्ण को चुनौती दी कि कृष्ण ! तुम शत्रु न उठाने की प्रतिज्ञा करके दिखावा तो यह कर रहे हो कि अर्जुन अपनी वीरता और कुशलता से लड़ रहा है, जबकि वह तुम्हारे कारण से ही सुरक्षित बना हुआ है, किन्तु आज या तो तुम्हें शत्रु उठाना पड़ेगा अन्यथा अर्जुन सुरक्षित नहीं रह सकेगा। यह कहकर भीष्म ने अत्यंत भयंकर बाण वर्षा की। तब स्थिति की विकटता को देखते हुए श्रीकृष्ण रथ से कूद कर एक टूटे रथ के पहिये को अपनी अंगुली से धुमाते हुए भीष्म के समक्ष ऐसी मुद्रा में खड़े हो गये मानों स्वयं विष्णु भगवान ने सुदर्शन चक्र धारण कर लिया हो। तब भीष्म ने श्रीकृष्ण के उस स्वरूप को प्रणाम किया और उस दिन के युद्ध विराम की घोषणा कर दी गई।

वस्तुतः श्रीकृष्ण ने इस प्रकार भीष्म को यह मूक संदेश प्रेषित किया कि 'हे भीष्म ! मुझे देख और अपनी स्थिति को देख। तू अपनी प्रतिज्ञा के अहंकार में बंधा होकर दुष्टों और अधर्मियों की ओर से लड़ रहा हैं जबकि मैं ऐसे किसी अहंकार में बंधा न होकर धर्मचक्र प्रवर्तन में रत हूँ। अहंकार से मुक्त होने के लिए ही तुझे जन्म मिला किन्तु जीवन का वह उद्देश्य तुझे अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। अब तो देख अपने जीवन के उस उद्देश्य को।'

तब युद्ध विराम के बाद रात्रि को श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को लेकर भीष्म के डेरे पर जाते हैं। युधिष्ठिर को विजयी होने का भीष्म आर्शवाद देते हैं तो श्रीकृष्ण की पूर्व सिखावन अनुसार युधिष्ठिर कहते हैं कि 'दादा ! आप जब तक कौरव सेना के सेनापति बने रहेंगे, यह आर्शवाद कैसे फलीभूत हो सकेगा ?' तब भीष्म ने जो उपाय बताया उस अनुसार अगले दिन शिखण्डी को आगे करके अर्जुन उसके पीछे से बाण चलाता है। भीष्म यह घोषणा करते हुए कि शिखण्डी जन्म से खीं था, उस पर बाण नहीं चलाते हैं और

अर्जुन भीष्म को बाणों से बींध करके उन्हें धराशायी कर देता है। इस प्रकार भीष्म को अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में श्रीकृष्ण ने जब जाग्रत कर दिया तो भीष्म अपने प्राणोंको न्योछावर करते हुए 'शरशय्या' वाली उस अवस्था का चयन करके आत्म चिंतन में लीन हो जाते हैं और जब तक अहंकार से मुक्त होकर आत्मानुभूति नहीं प्राप्त कर लेते तब तक 'इच्छा मृत्यु' के वरदान की छत्र-छाया में शरीर नहीं त्यागते। वास्तव में अहंकार से मुक्ति ही भीष्म के लिए 'उत्तरायण' था जिसे प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने शरीर त्याग किया।

कहानी का हमारे लिए आध्यात्मिक संदेश

यहाँ हमें यह स्पष्ट आध्यात्मिक संदेश दिया गया है कि हम भी अपने अपने जीवन के लक्ष्य को पहचानें और उस ओर आगे बढ़ें। हमें भी इच्छा-मृत्यु (अर्थात् अहंकार से मुक्त होने तक पुर्णजन्म लेते हुए, जीवन धारण करने) का वरदान प्राप्त है।

प्रतीकार्थों को न समझने से होने वाली हानि

इस कथा से हमें एक और महत्त्वपूर्ण शिक्षा भी प्राप्त होती है। प्रतीकात्मक कहानी को वास्तविक घटना मान लेने से हमारा मानस, शास्त्र वचनों के भी सही अर्थ ग्रहण करने में किस प्रकार भूल कर जाता है इसका उदाहरण हमें 'शुक्ले-कृष्ण गती' सम्बन्धी गीता के श्लोकों (८.२३ से २६) के अनेक भाष्योंमें मिलता है। इन भाष्यों में कहा गया है कि अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण में शरीर त्यागने वाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और धूवाँ, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन में प्रयाण करने वाले जन्म मृत्यु के चक्र में धुमते रहते हैं। यहाँ उत्तरायण का भौतिक अर्थ सूर्य की स्थिति वाला लिया गया है किन्तु यह असंगत है क्योंकि एक तो महाभारत युद्ध दक्षिणायन काल में लड़ा गया था जिसका समय स्वयं श्रीकृष्ण ने ही निश्चित किया था, दूसरे श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध से विरत न होने की प्रेरणा देते हुए उक्त बात कैसे कह सकते हैं। सारी गडबड भीष्म कथा में आये 'उत्तरायण' शब्द के भौतिक अर्थ ने उत्पन्न की है। उक्त श्लोकों के

आगे—पीछे वाले श्लोकों सहित इन श्लोकों में जिस विषय की विवेचना है उसके अनुसार भी और उत्तरायण के साथ अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष आदि प्रकाश को निरूपित करने वाले प्रतीकों से आत्मज्ञान प्राप्ति के कालक्रम स्तरोंको इंगित किया गया है एवं इसके विपरीत रात्रि आदि प्रतीकों से अंधकार अर्थात् अज्ञान (अबोध) स्थिति को इंगित किया गया है। इन श्लोकों का तात्पर्य स्पष्टतः बोध को जाग्रत करने वाला ज्ञान—सह-कर्म (= भक्ति) युक्त जीवन अपनाने की प्रेरणा देना है किन्तु भीष्म कथा के वास्तविक तात्पर्य पर ध्यान न देते हुए उसे भौतिक घटना मान लेने के कारण इन श्लोकोंका अर्थ भिन्न हो गया।

वस्तुतः: यह प्रभाव इस विषय से सम्बन्धित उपनिषदों के मन्त्रों (वृहदा. ६.२.१५, छान्दो. ४.१५.५; ५.१०.१ से २, कौशीतकि. १.३) के अर्थ पर भी कुछ भाष्यों में देखने को मिलता है। वहाँ ज्ञान और अज्ञान के प्रतीकात्मक शब्दों के भौतिक अर्थ लेकर विवेचनायें कर दी गई है, जबकि मूल स्त्रोत ऋग्वेद के मन्त्र (१०.८८.१५) में कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् को गति देने वाली दो ही मूल प्रेरणाएँ हैं – सांसारिक (पितृणम्) और आध्यात्मिक (देवनाम्)। **वस्तुतः**: ये प्रेरणाएँ ही अज्ञान और ज्ञान के रूप हैं।

सारांश

महाभारत में भीष्म को एक ऐसे पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो जीवन में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के स्तरों पर तो प्रकृति को पूर्णतः अपने नियंत्रण में ला चुका है, इन स्तरों पर प्रकृति की मौज से मुक्त हो चुका है, और जिसे अब अहंकार स्तर पर यह कार्य करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही उसे जन्म मिला है और अंततः जब यह लक्ष्य सिद्ध होता है तभी उसकी जीवन यात्रा पूरी होती है।

कौरव-पांडवों के पितृ-पुरुष

लेखमाला के प्रथम अंक में भीष्म पितामह की उत्पत्ति-कथा की व्याख्या के सन्दर्भ में हम कह चुके हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ के क्षणों में प्रकृति और पुरुष शक्तियों के जो रूप थे उन्हें कथा में गंगा और शान्तनु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाविस्फोट (Big Bang) के तुरन्त बाद भौतिक ऊर्जा रूप में जो प्रकृति प्रवाहित हुई उसे गंगा और उस समय अक्रिय पुरुष रूप चेतन सत्ता को राजा शान्तनु के रूप में चित्रित किया गया है। कुछ ही काल उपरान्त शान्त चेतन सत्ता (रूप राजा शान्तनु) में सृष्टि उत्पत्ति की इच्छा जाग्रत हुई और तब दोनों सत्ताओं का मिलाप हुआ तथा सृष्टि निर्माण के लिए आवश्यक अष्टधा प्रकृति रूप आठ तत्त्वों की उत्पत्ति हुई जिन्हें आठ वसु के रूप में कथा में वर्णित किया गया है। आठवें तत्त्व अहंकार का परिचय भीष्म चरित्र के रूप में हम प्रथम अंक में पढ़ चुके हैं।

१. वंश वृक्ष के आदि पुरुष व्यास की उत्पत्ति कथा का तत्त्वार्थ

कालान्तर में ऊर्जा रूप प्रकृति का रूपान्तर स्थूल प्रकृति में हुआ, जिसे कथा में मत्स्य कन्या सत्यवती कहा गया है। सत्यवती की उत्पत्ति राजा वसु के वीर्य से मत्स्य कन्या के रूप में बताई गई है। मत्स्य शब्द का एक अर्थ प्रणयोन्माद से युक्त होना है (मत्स्य=मद+स्यन्), अतः मत्स्य सूक्ष्म प्रकृति का सृष्टि निर्माण के लिए तत्पर हुआ रूप है। वसुओं में प्रथम वसु को 'आपः' कहा गया है और वैदिक कोश निघण्टु के अनुसार 'आपः' ऐसा उदक (उत्थान करने वाला) तत्त्व है जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। मत्स्य रूप प्रकृति और इस प्रथम वसु (आपः) से सत्यवती के जन्म की यह कथा बतलाती है कि सत्यवती के रूप में ऊर्जा रूप प्रकृति का अब यह दूसरा परिवर्तित स्वरूप है। सत्यवती नाम से स्थूल प्रकृति का बोध होता है क्योंकि प्राचीन औपनिषदिक साहित्य में स्थूल या प्रकट को 'सत्य' कहा गया है (दृष्टव्यः तिलक का 'गीता रहस्य' पृष्ठ २२४-प्रिंट सन् १९९१)। स्थूल प्रकृति (सत्यवती) और ऊर्जित हुई चेतन शक्ति (पराशर)

का संयोग होने पर जीवन का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तथ्य को ही 'व्यास' की उत्पत्ति के रूप में वर्णित किया गया है। 'पराशर' का शब्दार्थ भी इसी ओर संकेत करता है। पराशर=परा+शर, परा=परम पुरुष, शर=बाण; अतः पराशर= बाण के समान निर्दिष्ट दिशा में, प्रकृति में नियंत्रित करके विकास की दिशा में, गति देने वाली समष्टि चेतना।

2. व्यास का 'नियोग' : धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर की उत्पत्ति कथा

तीसरे रूपान्तरण में प्रकृति मानसिक स्वरूप ग्रहण कर त्रिगुणात्मक हो गई है जिसकी चार अवस्थाओं को अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका तथा एक दासी, इन चारों पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अम्बा की जैसी जीवन गाथा वर्णित की गई है उससे प्रकट होता है कि वह घोर तामसिक है जो संयोगवश मिली परिस्थितियों को स्वीकार न करते हुए विवाह के लिए भटकती रहती है और भीष्म को दोषी मानकर उनसे बदला लेने के लिए परशुराम की शरण में भी जाती है, तपस्या भी करती है तो इसी हेतु से तथा उस तपस्या के फल स्वरूप दूसरे जन्म में शिखण्डी बनकर भीष्म की मृत्यु का साधन बनकर ही संतुष्ट तो हो जाती है, किंतु दो जन्म निरर्थक गंवा देती है। अम्बिका और अम्बालिका क्रमशः तामसिक और राजसिक स्वरूप हैं जिनसे व्यास के 'नियोग' द्वारा क्रमशः तामसिक वृत्ति वाले (मोह से) अंधे धृतराष्ट्र का, और राजसिक वृत्ति के पांडु का जन्म होता है। इसी प्रकार सात्त्विक वृत्ति वाली दासी से साधु पुरुष विदुर का जन्म होता है।

'नियोग' शब्द एक विशेष संकेत देने हेतु चुना गया है। सामान्यतः समझा जाने वाला पर-स्त्री को संतान प्रदान करने हेतु संभोग वाला अर्थ यहाँ नहीं है। योग का अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। अतः नियोग का अर्थ है चेतना का संसार के साथ लिप्त होना। उपनिषदों में जिसे अज्ञान, अविद्या और बाद में माया कहा गया है, उसे ही कथा में नियोग कहा गया है। नियोग का यह अर्थ इस वर्णन के अनुरूप है कि माता सत्यवती, जो कि प्रकृति की स्थूल अवस्था को निरुपित करती है, अपने पुत्र व्यास को नियोग का आदेश देती है। ऐसा इसलिए कि प्रकृति परमेश्वर

की सहचरी बन चुकी है और वह परमेश्वर की समग्र विकास की इच्छा के दोनों आयाम—विस्तार और उच्च विकास—को सम्पन्न करने के लिए तत्पर रहती है।

३. प्रकृति के गुणों की प्रबलता / दुर्बलता का कथा में निरूपण

प्रकृति जब त्रिगुणात्मक बनती है तो प्रारम्भ में तमस प्रबल होता है, रजस दुर्बल और सत्त्व शक्ति—शून्य। व्यास के नियोगज पुत्रों—धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के व्यक्तित्वों में वीर्य अर्थात् सक्रियता का ओज इसी क्रम में परिलक्षित हो रहा है। धृतराष्ट्र और उसके पुत्र काफी समय तक देव पुत्र पांडवों की सत्ता हथियाने और उन्हें निर्वासित जीवन जीने के लिए बाध्य करने में तब तक सफल रहते हैं, जब तक कि पांडवों को भगवान् श्रीकृष्ण का सहारा नहीं मिल जाता।

इसी प्रकार कथा में यह भी इंगित किया गया है कि बलहीन सात्त्विकता को बलवान् तमस के दासत्व में रहना पड़ता है। इस बात को विदुर और उसकी माता के दासत्व जीवन से दर्शाया गया है। दोनों ही तामसिक शक्तियों के दास हैं—विदुर धृतराष्ट्र की तामसिक सत्ता में मंत्री रह कर भी दास जैसा जीवन जीने को बाध्य हैं और उनकी माँ भी तामसिक प्रकृति रूपा रानी अंबिका की दासी है। दूसरी ओर, राजस गुणी किंतु दुर्बल पांडु से यदि पुत्र होते तो वे दुर्योधन आदि प्रबल तमस शक्तियों से कभी विजय प्राप्त नहीं कर पाते। जबकि तथ्य यह है कि जीवन का ऊर्ध्व विकास कभी हारता नहीं है। उसे परमेश्वर की देव शक्तियों का बल अवश्य मिलता है। इसे चित्रित करने के लिए पांडवों को देव शक्तियों से उत्पन्न बताया गया है। इस वर्णन का आध्यात्मिक अर्थ इतना ही है कि इन पांडु पुत्रों में भिन्न सात्त्विक गुणों की जो सामर्थ्य है वह दुर्बल पांडु की न होकर उन देवों की है जिनका आवाहन पांडु के कहने पर कुंती ने और फिर माद्री ने किया था।

४. बुद्धि रूपा प्रकृति के त्रिगुणी स्वरूप : गान्धारी, कुंती, माद्री

चौथे चरण में प्रकृति बुद्धि के रूप में विकसित हुई है, जिसके

त्रिगुणात्मक रूपों को कथा में गान्धारी, कुन्ती और माद्री से निरूपित किया गया है। हमारी इस मान्यता के तीन मुख्य आधार हैं – १. पात्रों के चरित्र वर्णन (जिसकी विवेचना आगे दी जा रही है) २. इनके पुत्रों के चरित्र (जिसकी विस्तृत विवेचना हम आगामी अंकों में करेंगे), और ३. महाभारत ग्रंथ के प्रवाचक स्वयं वैशम्पायन मुनि द्वारा इन तीनों पात्रों को क्रमशः मति, सिद्धि और धृति देवियों के अवतार कहना (१.६७.१६०)। ये तीनों स्त्री पात्र क्रमशः तम, रज और सत बुद्धि के मूर्त रूप हैं। गान्धारी धृतराष्ट्र की पत्नी होकर घोर तामसिक दुर्योधन, दुःशासन आदि दुष्ट कौरवों को जन्म देती है, कुन्ती और माद्री पांडु की पत्नियाँ बनती हैं और पांडु के आदेश से देवताओं का आवाहन करके राजसिक एवं सात्त्विक पुत्रों की माता बनती हैं।

गान्धारी प्रकट में तो सात्त्विक जान पड़ती है क्योंकि वह बहुधा न्यायपूर्ण वाणी बोलती है, तथापि वह पुत्र के प्रति मोह से अत्यधिक ग्रस्त है। महाभारतकार ने इसी दोहरे चरित्र को प्रकट करने के लिये उन्हें नेत्रों पर पट्टी बांध कर पति धृतराष्ट्र का अंधानुकरण करने वाली बतलाया है। इस मोहान्धता के प्रमाण उनके चरित्र में कुछ घटनाओं में स्पष्ट दिखते हैं। पहली घटना गर्भधारण काल की है। गान्धारी इस बात से प्रसन्न थी कि उसने कुन्ती से पहले गर्भधारण किया है और उसका पुत्र राजकुमारों में ज्येष्ठ रहकर राज्य का उत्तराधिकारी रहेगा। किन्तु जब उसे कुन्ती को पहले पुत्र हो जाने की सूचना मिली तो दुःख से विमृद्ध हो उसने उदरस्थ गर्भ पर चोट करके नष्ट कर डालने का प्रयास किया। परिणाम स्वरूप एक अविकसित मांसपिण्ड का प्रसव हुआ। कथानुसार व्यास ने उस पिण्ड को एक सौ एक टुकड़ों में बांटकर घड़ों में उनका परिपोषण किया जिनसे कुछ समय बाद दुर्योधन आदि सौ पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। धृतराष्ट्र-गान्धारी की १०१ सन्तानों के जन्म की यह गाथा उपनिषदों, (कठ. २.३.१६, छन्द ८.६.६, प्रश्न ६, बृहदा. ४.२.३) के उस प्रसिद्ध मंत्र का प्रतीकात्मक चित्रण है, जिसमें कहा गया है – ‘शतं च एका हृदयस्थ नाड्यः...’ अर्थात् चित्त की एक सौ एक (एक सौ=अनेक), वृत्तियाँ हैं जिनमें से एक परमेश्वर की ओर ऊर्ध्वगामी एवं शेष संसार की ओर अधोगामी है। कथित १०१ संतानों

में भी एक विकर्ण के सिवाय अन्य सभी दुष्ट और पापी थे, केवल विकर्ण को धर्म का ज्ञान था—जुए के बाद जब कौरवों की राज्य सभा में द्रौपदी को अपमानित किया जा रहा था, वह ही अकेला निडर युवा था जिसने द्रौपदी के प्रश्नों को धर्मानुकूल घोषित किया था, जबकि भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र जैसे बुजुर्ग चुपचाप बैठे रहे (द्रष्टव्यः—महाभारत, सभा पर्व, अ. ६८१)। रामकथा में भी रावण का एक पुत्र प्रहस्त धृतराष्ट्र के पुत्र विकर्ण के स्वभाव का वर्णित किया गया है। (द्रष्टव्यः—मानस दोहा क्र. ६ से ८ तक)

गान्धारी की पुत्रों के प्रति मोहान्ध दृष्टि के और कई उदाहरण हैं। पुत्र दुर्योधन, दुःशासन और भाई शकुनि को उसने पांडवों के विरुद्ध षड्यंत्र रचने के विरुद्ध उन्हें न तो समझाने का प्रयास किया और न शकुनि को अपने गान्धार देश चले जाने का निर्देश दिया। और जब युद्ध में सभी पुत्र मार डाले गये तो उसने इसका सारा दोष श्रीकृष्ण के मत्थे इसलिए मढ़ कर उन्हें शाप दिया कि उन्होंने युद्ध से विरत होते अर्जुन को गीता का ज्ञान दिया था जो उसके पुत्रों के विनाश का कारण बना।

कुंती को उच्च राजस गुणों से सम्पन्न बताया गया है। पुत्रों के प्रति मोह कुंती को भी है, किन्तु वह तामसिक नहीं है। वह धैर्यपूर्वक दुःखों को झेलते हुए ईश्वर परायण हो पुत्रों का पालन करती हुई तब तक उनको साथ लिए वन और गाँवों में भटकती रहती है जब तक वे राज्य का हिस्सा प्राप्त नहीं कर लेते। किंतु जब युधिष्ठिर द्यूत क्रीड़ा में राज्य हारकर भाइयों और द्रौपदी के साथ वनवास ग्रहण करते हैं तो कुंती हस्तिनापुर में ही रहती हैं। इसके पूर्व की एक घटना उनके विशाल हृदय का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है। लाक्षाग्रह के अग्निकांड से बच निकलने के बाद वह पुत्रों के साथ एकचक्र नगर में एक निर्धन ब्राह्मण के घर के एक भाग में रह रही थी। एक दिन कुंती को पता लगा कि उस गरीब ब्राह्मण परिवार में से किसी एक व्यक्ति का उस नगर के राक्षस शासक बकासुर का आहार बनने का क्रम आ गया था जिससे बच्चों सहित पति-पत्नी बहुत दुःखी थे। दुःख का कारण ज्ञात होने पर कुन्ती ने उनके स्थान पर पुत्र भीम को इसलिये भेज दिया कि या तो भीम उस राक्षस को मार ही डालेगा और यदि ऐसा न भी

हो सका तो भी उस परिवार को बचाने के लिए अपने पाँच में से एक पुत्र का बलिदान करना उसका धर्म होगा।

माद्री के बारे में अधिक विवरण तो उपलब्ध नहीं है, किंतु वह घटना वर्णित है जिसमें वे पति (पाण्डु) की मृत्यु के लिए अपने शारीरिक सौन्दर्य को उत्तरदायी मानते हुए उन्होंने सती होने का निश्चय किया और अपने बाल-पुत्रों का भी मोह न करते हुए उन्हें कुन्ती को सौंप कर चिता में भस्म हो गई। यह घटना उनकी सात्त्विक मानसिक स्थिति की द्योतक है।

इन स्त्री पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं की विवेचना के अतिरिक्त ग्रन्थ के कथाकार वैशम्पायन मुनि की इनके बारे में टिप्पणी का हमने उल्लेख किया था, उस पर भी विचार करने से इन पात्रों के त्रिगुणी स्थिति के बारे में हमारी उपरोक्त धारणा की ही पुष्टि होती है। मुनि ने गान्धारी, कुन्ती और माद्री को क्रमशः मति, सिद्धि और धृति देवियों का अवतार कहा है (१.६७.६०)। इन शब्दों के अर्थ पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि मन और कामना से जुड़ी बुद्धि को 'मति' कहा जाता है। अतः गान्धारी को मुनि ने भी निम्न राजसिक/तामसिक बुद्धि का निरूपण माना है। मुनि ने कुन्ती को सिद्धि कहा है और सिद्धि का अर्थ है प्रेय अर्थात् भौतिक समृद्धि की उचित साधनों से प्राप्ति। इसे ही राजसिक बुद्धि कहा जा सकता है। अब माद्री को जो धृति कहा गया है उसे समझें। मनु ने धृति को धर्म के दस लक्षणों में से एक गिनाया है और इसका अर्थ है स्थिर-चित्तता, प्रशांतता, शांत-चित्त होना। माद्री के बारे में जो थोड़ा सा उपरोक्त चरित्र हमारे सामने है, ये गुण उसके अनुरूप हैं।

५. बुद्धिगत चेतना के त्रिगुणी स्वरूप—धृतराष्ट्र, पांडु, विदुर

ऊपर अनुच्छेद-२ में कहा जा चुका है कि व्यास समष्टि चेतना का जीवन के रूप में प्रस्फुटित होने वाला स्वरूप है। इस व्यास चेतना और त्रिगुणात्मक हुई प्रकृति से ये तीनों 'नियोगज' पुत्र क्रमशः तमस, रजस और सतोगुणी बुद्धि को निरूपित करते हैं। जैसा कि अनुच्छेद-३ में कहा गया है, इन पात्रों में गुणों का विकास तो क्रमशः निम्न से उच्च की ओर हुआ है, किंतु प्रकृति की क्रियात्मक शक्ति, इस चरण में, इसी क्रम में

घटती हुई दिखाई गई है। ये दोनों बातें इन पात्रों के चरित्र चित्रण में दिखाई देती हैं।

धृतराष्ट्र

इस पात्र को जन्मांध बताया गया है जिसका संकेत है कि यहाँ बुद्धि इतनी संकुचित है कि अपने स्वार्थ से परे जाकर उसे कुछ दिखाई नहीं देता अथवा वह देखना नहीं चाहती। भीष्म, विदुर और अन्य कई महात्माओं की सलाह से धृतराष्ट्र धर्मचरण की ओर मुड़ने का प्रयास तो करता है, किन्तु स्थिर वह अपनी तामसिकता पर ही होता है। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वह राज्य का उत्तराधिकारी था, किन्तु भीष्म ने उसकी अयोग्यता (जिसे कहानी में अंधत्व कहा है) के कारण राज्य सिंहासन पर पाण्डु को बैठाया। यह बात धृतराष्ट्र के मन को कचोटती रही, किंतु वह बेबस था। संयोगवश भाग्य ने पलटा खाया और कुछ समय बाद पाण्डु, जिनकी राजकाज में संभवतः रुचि नहीं थी, पत्नियों सहित धर्म लाभ हेतु वनांचल में किसी आश्रम में चले गये तो राज्य की बागडोर धृतराष्ट्र को कार्यकारी राजा के रूप में सौंपी गई। पांडु की असामयिक मृत्यु के बाद माद्री तो सती हो गई और कुन्ती पाँचों पुत्रों के साथ हस्तिनापुर लौटी तो धृतराष्ट्र को अपने पुत्र को लेकर यह चिंता सताने लगी कि ऐसा न हो कि पांडु के पुत्र युधिष्ठिर, जो कि कुरु परिवार के सभी राजकुमारों में ज्येष्ठ था, को भविष्य में उत्तराधिकारी बना दिया जाय, अतः उसने बिना भीष्म आदि की सहमति लिये, दुर्योधन को युवराज घोषित कर दिया। इतने से वह आश्वस्त नहीं हुआ, क्योंकि पांचों पांडु-पुत्र अपने सदगुणों के कारण लोकप्रिय होते जा रहे थे अतः उन्हें रास्ते से हटा देने के लिये वह अपने पुत्रों को गुपचुप प्रोत्साहित करने लगा यद्यपि वह इस बात को अत्यन्त गुप्त रखता था। सर्वप्रथम बलवान् भीम को बाँध कर नदी में डुबाने का प्रयास किया गया और इसमें सफल न होने पर पूरे पांडु परिवार को समाप्त करने की दुर्योधन, दुःशासन, मामा शकुनि और कर्ण की चण्डाल चौकड़ी ने एक भयंकर षड्यंत्र रचा। वारणावत नगरी में होने वाले, आजकल के सिंहस्त्र समान, मेले में उस बार राज परिवार की ओर से कुंती सहित पांडवों को

भिजवाने की योजना बनाई गई। धृतराष्ट्र ने इस सम्बन्धी अधिसूचना करवा दी और राज-परिवार के ठहरने के लिए एक महल बनवाया गया। विश्वसनीय सेवकों से महल को ज्वलनशील पदार्थों का उपयोग करके निर्मित किया गया और इसी प्रकार की वस्तुओं से उसे सजाया गया। किंतु चौकन्ना रहने वाले विदुर को इस गुप्त योजना की खबर लग गई और उन्होंने महल से बच निकलने के लिए उसके निकट एक गुप्त सुरंग का निर्माण करवा दिया। जब पांडव परिवार वहाँ रहने लगा तो युधिष्ठिर तथा भीम को सूचना देकर सुरंग का मुँह महल में खोल दिया गया। दुर्योधन का विस्वस्त मंत्री पुरोचन योजना को क्रियान्वित करने के लिये वहाँ स्वागताधिकारी के रूप में नियुक्त था। उसे विदुर की योजना का पता ही न चला और वह महल में आग लगवाता उसके पूर्व ही पांडवों ने एक दिन शाम को एक भव्य भोज का आयोजन किया और देर रात जब पुरोचन आदि गहरी निद्रा में थे पांडव कुंती को लेकर गुफा में चले गये और भीम ने महल के चारों तरफ आग लगाकर वह स्वयं भी फूर्ति से सुरंग में चला गया और ये लोग सुरक्षित बन में निकल गये। इस प्रकार पांडव तो जिंदा बच गये, किंतु लोगों को इन्हें जला देने की शंका धृतराष्ट्र पर अवश्य हो गई। अतः जब पांडवों के जीवित होने की बात, द्वौपदी स्वयंवर के बाद, जग जाहिर हुई तो धृतराष्ट्र को अपना कलंक दूर करने के लिए राज्य में आनन्दोत्सव मनाते हुए पांडवों को हस्तिनापुर लिवा लाना पड़ा। तब श्रीकृष्ण के दबाव से राज्य का छोटा सा पिछड़े इलाके का राज्य पांडवों को दिया गया, किन्तु जब वह इलाका सुसम्पन्न हो गया तो उसे भी जुए की चाल चलकर पुनः हथिया लिया गया। उस समय भी विदुर ने विरोध किया, किंतु धृतराष्ट्र की इसमें सहमति रही। वस्तुतः तो धृतराष्ट्र पांडवों के विरुद्ध हर साजिश में शामिल था, किंतु जनता विरुद्ध न हो जाये इस डर से वह भेद न खुल जाये यह सावधानी बरतने का पूरा प्रयास करता था। महाभारतकार ने उसके दोगले चरित्र को अनेक घटनाओं के वर्णन में प्रकट किया है। यहाँ हम केवल ऐसी दो घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

जुअे में शकुनि जब अपनी कपट चाल से जीतता था तो धृतराष्ट्र के

चेहरे पर जो प्रसन्नता छा जाती थी और उद्गार निकलते थे उसका वर्णन पठनीय है। इसी प्रकार की युद्ध समाप्ति के बाद की एक घटना का ग्रंथकार ने वर्णन किया है जो धृतराष्ट्र के कपट और द्रेष को प्रकट करती है। संजय, विदुर और व्यास ने पुत्र शोक से दुःखी धृतराष्ट्र को अनेक प्रकार से समझाया। तभी युधिष्ठिर भी भाइयों और श्रीकृष्ण सहित उनसे मिलने आये और कुलनाश के शोक में शामिल हो चुपचाप खड़े हो गये। धृतराष्ट्र ने पहले युधिष्ठिर को पास बुलाकर गले लगाया, किंतु वह आलिंगन स्नेहपूर्ण नहीं था। इसके बाद उन्होंने भीम को अपने पास बुलाया, किंतु श्रीकृष्ण ने उनके हावभाव देखकर भीम को तो एक तरफ हटा लिया और कमरे में रखी एक प्रतिमा को उनके पास खड़ा कर दिया। धृतराष्ट्र ने प्रतिमा को भीम समझकर छाती से लगाकर इतने जोर से कसा कि लोहे की प्रतिमा चूर-चूर हो गई। भीम तो बच गया किंतु धृतराष्ट्र की दुर्भावना प्रकट हो गई। इसके बाद भी पांडवों ने धृतराष्ट्र तथा गन्धारी के प्रति व्यवहार में आदर-सम्मान की कोई कमी न आने दी, किन्तु उनका मन राजमहल में नहीं लगा। एक दिन वे तीर्थयात्रा पर निकल गये और फिर नहीं लौटे।

पांडु

रजोगुणी प्रकृति रूपा अंबालिका के पुत्र थे पांडु। इन्हें जब राजा बनाया गया तो उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन और संवर्धन किया। किंतु उनका मन नहीं लगा और वे अपनी दोनों पत्नियों – कुंती तथा माद्री को साथ लेकर वन में एक आश्रम में चले गये और वहीं साधु-सा जीवन जीने लगे। वहीं कुंती से उन्हें तीन पुत्र—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा माद्री से दो पुत्र—नकुल और सहदेव, की प्राप्ति हुई। उनके इस प्रकार के साधु-सम जीवन में उच्च राजस गुणों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

वस्तुतः कहानी को प्रतीकात्मक स्वरूप देकर आध्यात्मिक बनाने हेतु ग्रंथकार ने, प्रतीत होता है कि, इसमें उस काल में प्रचलित शाप तथा मंत्रों से देवताओं के आवाहन आदि बातें जोड़ कर इसे खूब रोचक और विशेष संदेश प्रेषक बनाया है। कहा गया कि पाण्डु ने एक बार मैथुनरत एक

हिरन-जोड़े पर तीर चला कर एक हिरन को मार डाला था जो ऋषि पति-पत्नी थे जिन्होंने पांडु को शाप दे दिया कि राजा पांडु भी रति सुख नहीं भोगें अन्यथा उनकी मृत्यु तुरन्त हो जायेगी। स्पष्ट ही ऋषि का हरिण बनकर क्रीड़ारत होने की यह बात पूर्णतः काल्पनिक है और पाण्डु पुत्रों को देव संतान बताकर आध्यात्मिक संदेश देने के लिये इसे अलौकिक बनाया गया है। हमारा तार्किक मन यदि इस प्रकार के वर्णनों को स्वीकार करने में विरोध करता हो तो हम अलौकिक वर्णनों को छोड़कर भी कहानी के मूल सन्देश को ग्रहण कर सकते हैं। सारांश यह कि पांडु को सात्त्विकता की ओर बढ़ने वाले राजसिक गुणों से युक्त पात्र को खड़ा किय गया है।

विदुर

बहुधा देखा जाता है कि सतोगुणी व्यक्ति में दूसरों को सतोगुणी आचरण की ओर प्रेरित कर सकने वाला प्रभाव कम ही होता है। नेतृत्व का यह गुण सत्त्वगुणी व्यक्तियों में बिले में ही दिखाई देता है। इसका अर्थ यह है कि अधिकांश सतोगुणी व्यक्तियों की बुद्धि और मन तो सतोगुणी हो गये होते हैं अर्थात् ज्ञान शक्ति उनके मन-बुद्धि में तो उत्तर चुकी होती है किंतु उनके व्यक्तित्व में तेजस्विता अर्थात् आत्मबल अभी इतना सक्षम नहीं हो पाता है कि वह अन्यों को सत्त्वगुण में क्रियाशील कर सके। विदुर के स्वरूप में हमारे समक्ष इस प्रकार के ही एक सतोगुणी किंतु तेजस्विता विहीन व्यक्ति का प्रतिमान (model) प्रस्तुत किया गया है।

विदुर अपने सतगुणों के कारण ही धृतराष्ट्र के शासन में भीष्म द्वारा मंत्री बनाये गये थे किंतु उनकी नेक सलाह धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन आदि ने कभी नहीं सुनी। जुए के लिए युधिष्ठिर को आमंत्रण भेजे जाने के समय विदुर ने पहले धृतराष्ट्र को और फिर युधिष्ठिर को भी जुए के खेल के विरुद्ध बहुत समझाया था, किंतु किसी ने नहीं सुना। वे बड़े न्यायप्रिय, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता, और धर्मात्मा थे तथा इसी कारण पांडवों से विशेष स्नेह रखते थे और कई बार उन्होंने उन्हें संकटों से बचाया। लाक्षाग्रह में पांडवों को जलाकर मरवा डालने वाले षड्यंत्र से उन्हें जीवित बचाने में उनकी बुद्धिमत्ता पूर्ण और निर्णायक भूमिका की चर्चा हम पहले कर ही चुके हैं।

देव पुत्र पांडव

पूर्व कथाओं का सार कथन

लेखमाला के प्रथम अंक में हमने भीष्म की उत्पत्ति देवी गंगा और राजा शान्तनु से होने की कथा की प्रतीकात्मक विवेचना इस रूप में की थी कि गंगा प्रकृति के प्रारम्भिक ऊर्जा रूप को, राजा शान्तनु पुरुष तत्त्व के शान्त रूप को, तथा भीष्म उनसे उत्पन्न वसुओं (अर्थात् अपरा प्रकृति रूप भूमि आदि आठ तत्त्वों) में आठवें तत्त्व 'अहंकार' को निरूपित करते हैं।

लेखमाला के दूसरे भाग में हमने प्रकृति-पुरुष के द्वितीय चरण, तृतीय चरण और चतुर्थ चरण के रूपान्तरण वाली कथाओं की विवेचनायें प्रस्तुत की थीं। दूसरे रूपान्तरण के अन्तर्गत प्रकृति के स्थूल रूप को सत्यवती से, पुरुष के ऊर्जित रूप को महर्षि पराशर से तथा उनसे उत्पन्न व्यास को जीवन तत्त्व से निरूपित माना था। तीसरे चरण को वहाँ हमने त्रिगुणात्मक मानसिक जगत की उत्पत्ति और चौथे चरण को त्रिगुणी बुद्धि रूपा प्रकृति का चित्रण मानकर कुरुवंश के वर्णित इतिहास को समझने का प्रयास किया था।

इस अंक में तथा आगामी कुछ अंकों में हम पांचवें चरण का अध्ययन करेंगे जिसके, अन्तर्गत कौरव-पांडवों के रूप में मनुष्य की आसुरी और देवी वृत्तियों का निरूपण हुआ है।

१. मनुष्य के पांच कोश : उनमें ज्ञान ऊर्जा का स्तर और मात्रा

मनुष्य में चेतना के विभिन्न स्तरों को पांच कोशों के रूप में वर्णित किया गया है। ये पांच कोश हैं—१. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय और ५. आनन्दमय।

अन्नमय कोश से आशय है चेतन शरीर, प्राणमय कोश है शरीर को जीवित रखने वाली श्वसन, पाचन आदि प्रणालियाँ, मनोमय कोश है—इच्छा और संकल्प करने वाला मन। विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत ज्ञान के दो स्तर आते हैं—१. बुद्धि जो बाहरी सूचनाओं को ग्रहण करती है और

उनका विश्लेषण करके निर्णय करती है, २. प्रज्ञा या उच्च ज्ञान, जो कुछ अधिक विकसित व्यक्तियों में क्रियाशील हुआ देखा जाता है। इनके अतिरिक्त कोई एक विरले व्यक्ति में चेतना का एक और सर्वोच्च स्तर भी जाग्रत हुआ देखा जाता है जिसे आनन्दमय कोश नाम दिया गया है। गीता में इसे श्रीकृष्ण (महेश्वर) के रूप में वर्णित किया गया है।

सामान्य व्यक्ति में चेतन ऊर्जा का वितरण इन कोशों में घटते क्रम में होता है। अन्नमय और प्राणमय कोशों में इस ऊर्जा की मात्रा सामान्यतः इतनी पर्याप्त होती है कि शरीर और उसकी प्राणिक क्रियायें आमतौर पर पूर्णतः व्यवस्थित चलती रहती हैं, किंतु मन और बुद्धि के स्तर पर ऐसी स्थिति नहीं होती। सभी मनुष्यों में इन स्तरों पर चेतन ऊर्जा की सामर्थ्य पर्याप्त नहीं है और एक समान भी नहीं है। जो अभी मनो-बौद्धिक विकास के अपेक्षाकृत निचले चरण में हैं, उनमें यह ज्ञान ऊर्जा अज्ञान रूपा प्रकृति की क्रियाशक्ति को भली प्रकार नियंत्रित नहीं कर पाने के कारण उस व्यक्ति के कार्य तामसिक (अर्थात् अज्ञान-परक) होते हैं, जबकि अधिक विकसित मनुष्यों में इस चेतना की सामर्थ्य इतनी पर्याप्त हो जाती है कि उनके मन / बुद्धि राजसिक अथवा सात्त्विक गुणों से युक्त हो जाते हैं। कथा में प्रथम प्रकार के (तमस्) मनुष्यों को कौरवों के रूप में और उच्चता प्राप्त मनुष्यों को पांडवों के रूप में निरूपित किया गया है।

२. दैवी-गुणी मनुष्य के चेतना स्तरों का निरूपण पांडवों के रूप में

महाभारतकार ने उपरोक्त कोशों में से प्रत्येक में क्रियाशील ऊर्ध्वमुखी चेतना को निरूपित करने के लिए एक-एक विशिष्ट पात्र की रचना की है। इस प्रकार, अन्नमय कोश की चेतना को युधिष्ठिर से, प्राणामय कोश की चेतना को भीम से, मनोमयी चेतना को अर्जुन से, एवं विज्ञानमयी चेतना के दोनों स्तरों को नकुल-सहदेव से निरूपित किया गया है।

महाभारत कथा को समझने के लिये हमें इस तथ्य को एक क्षण के लिये भी विस्मृत नहीं होने देना चाहिये कि कथा के ये पात्र व्यक्ति नहीं वरन् मानवीय वृत्तियों का निरूपण हैं। पांच पाण्डव भी सत्यमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के पांच कोशों की वृत्तियों का निरूपण हैं।

पांचों पांडवों की उत्पत्ति देव शक्तियों (देवताओं) से बताई गई है। वस्तुतः परमात्म शक्ति के जिन अंशों से प्रकृति की विशेष रचनाओं में ऐसे जिन विशिष्ट गुणों का प्राकट्य होता है जो व्यक्ति और समष्टि के विकास में सहायक होते हैं, उनको देवता कहा गया है। ऐसी शक्तियाँ समष्टि स्तर पर भी क्रियाशील हैं और व्यष्टि स्तर पर भी, अतः उक्त प्रकार की समष्टिगत शक्तियों को भी देवता कहा गया है और व्यक्ति अथवा किसी छोटी इकाई में चैतन्य शक्ति को भी देवता कहा गया है जब उस इकाई का वर्णन उससे छोटे अंशों से सम्बन्ध बताने कि लिए किया जा रहा हो (दृष्टव्यः बृहदा. ३.९.१, उसकी व्याख्या हेतु लेखक का लेख, 'गीता से जुड़े' पत्रिका अंक ४, २००४ एवं चिन्मयानन्द कृत गीता भाष्य, श्लोक ३.११, फुट-नोट)। यहाँ समष्टि स्तर पर विशिष्ट कार्य प्रेरक शक्तियों को देवता कहा गया है और सदगुणी व्यक्ति में इनके अंशों को पांडवों के रूप में वर्णित किया गया है। दूसरे शब्दों में, दैवी सम्पदा को प्राप्त व्यक्ति के प्रथम चार कोशों में क्रिया प्रेरक चेतन शक्ति को कथा में पांडवों के रूप में निरूपित किया गया है (और पांचवें आनन्दमय कोश स्थित चेतन शक्ति का निरूपण भगवान श्रीकृष्ण के रूप में हुआ है)।

३. पांडव पात्रों के प्रतीकार्थ को प्रकाशित करने वाले कुछ संकेत

महाभारतकार ने पांडवों के उक्त प्रतीकात्मक अर्थ को इंगित करने के लिए ग्रंथ में इन पात्रों के विशिष्ट गुणों को प्रकाशित करने वाली घटनाओं का तो वर्णन किया ही है, कुछ ऐसे संकेतों का भी वर्णन किया है जो उनके उपरोक्त आध्यात्मिक अर्थ को प्रकाशित करने में बहुत सहायक हैं। प्रथम हम इन कुछ 'संकेतों' का और पश्चात् पात्रों से सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन करेंगे।

जिन कुछ प्रमुख 'संकेतों' पर हमारा ध्यान गया है वे हैं—१. देवताओं के नाम जिनके ये पुत्र बतलाये गये हैं, २. उन शंखों के नाम जो पांडवों और श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व बजाये थे (गीता - १.१५, १६), ३. इन पात्रों के अर्थबोधक नाम, ४. वनवास के तेरहवें वर्ष (अज्ञात वास काल) में राजा विराट के यहाँ स्वीकार किया गया सेवा कार्य, ५. हिमालय की अन्तिम यात्रा में इनके गिरने/गलने का क्रम, ६. वनवास

काल की वे कुछ घटनायें जिनमें युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन की परीक्षायें उनके पितृ-देवों द्वारा ली गयी और इनके सफल होने पर उन्हें अतिरिक्त बल प्रदान किया गया, और ७. ग्रंथ के प्रवक्ता सूतजी की टिप्पणियाँ और रचयिता स्वयं व्यासजी द्वारा द्रुपद को इनके और द्रौपदी के पूर्व जन्म का दर्शन कराना। इनमें से कुछ प्रमुख की विवेचनायें नीचे प्रस्तुत हैं -

३.१ आवाहित देवता और उनका क्रम

राजा पांडु की आज्ञा से पुत्र प्राप्ति हेतु कुंती ने और पश्चात् माद्री ने जिन देवों का मन्त्रावाहन किया और जिस क्रम में किया उसमें महाभारतकार का निश्चित ही एक विशेष संदेश निहित है। सर्व प्रथम 'यम' देवता का आवाहन किया गया जो प्रथम दृष्ट्या आश्चर्यजनक लगता है। वैदिक देवताओं में अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र आदि और पौराणिक देवताओं में शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु को जो महत्व प्राप्त है वैसा यम को नहीं। फिर भी जब महाभारतकार ने कुंती द्वारा आहूत तीन देवों में यम देवता को प्रथम स्थान देते हुए युधिष्ठिर को उनका पुत्र बताया है तो हमें इस पर समुचित विचार करना होगा।

यम देवता से युधिष्ठिर : ह्यप्राचीन काल में 'यम' को परमात्म शक्ति का एक विशिष्ट कार्य संपादन करने वाला अंश माना गया है यह नचिकेता, सावित्री, और इस युधिष्ठिर प्रसंग से स्पष्ट है। नचिकेता की और सावित्री की कथाओं (एवं कुछ अन्य पौराणिक कहानियों) के आधार पर आम धारणा यह है कि वे मृत्यु के देवता हैं किंतु महाभारत के इस प्रसंग से वह धारणा मेल नहीं खाती क्योंकि यहाँ तो उन्हें जन्म-प्रदाता के रूप में वर्णित किया गया है। किंतु यदि हम यह मानें कि 'यम' परमात्म शक्ति का ऐसा अंश है जो प्रकृति को ऐसी क्षमता प्रदान कर देता है कि वह पुनरुत्पत्ति क्रिया द्वारा शरीरों की प्रतिकृतियें बजाती रहती हैं तो यह धारणा गीता में भगवान के उस वचन का भी स्पष्टीकरण कर देती है कि 'मैं जीव जगत का प्रसव और प्रलय हूँ' (७.६), तथा उपरोक्त तीनों कथाओं में 'यम' की इस भूमिका को भी स्पष्ट कर देती है कि 'यम' जीवात्मा को जन्म/मरण अर्थात् पुनर्जन्म की सुविधा उपलब्ध कराकर वह उसके आध्यात्मिक

उत्थान का मार्ग खोल देता है। अब यह व्यक्ति के ज्ञान और कर्म शक्ति पर निर्भर करता है कि वह यम देवता द्वारा उपलब्ध कराई गई इस पुनर्जन्म प्रक्रिया का समुचित उपयोग कर पाता है या नहीं।

इस प्रकार, यम से युधिष्ठिर की उत्पत्ति की कहानी जीवात्मा को शरीर अर्थात् अन्नमय कोश उपलब्ध कराने वाली दैविक व्यवस्था का वर्णन करती है।

वायु देवता से भीम : वायु देवता अर्थात् जीवों को प्राणिक शक्ति प्रदान करने वाली परमात्म शक्ति। यदि हम प्राणिक शक्ति के मूल की तलाश करें तो वह हमें वायु आधारित जैव-रासायनिक क्रियाओं के चक्र में मिलता है। वनस्पतियें प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा प्राणियों के लिए खाद्य सामग्री की उत्पत्ति वायु में उपस्थित अप्राण-वायु (O_2) से करते हुए प्राणवायु (O_2) छोड़ते हैं और प्राणी उस खाद्य सामग्री से वायु में उपस्थित प्राणवायु का उपयोग करते हुए पुनः अप्राणवायु और प्राणिक ऊर्जा/शक्ति उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार, प्रकाश ऊर्जा को प्राणिक ऊर्जा में बदलने का कार्य वायु सम्पन्न करती है। अतः प्राणिक बल के मूर्त रूप भीम को वायु पुत्र बताना हमारे वर्तमान भौतिक विज्ञान से पृष्ठ तथ्यों के भी अनुकूल बैठता है। दूसरे शब्दों में, प्राणमय कोश में क्रियाशील चेतना का निरूपण भीम के रूप में जो किया गया है वह सर्वथा उचित सिद्ध होता है।

इन्द्र देव से अर्जुनः मन में क्रियाशील चेतना का समष्टिगत रूप है इन्द्र। मन के दो क्रिया-कलाप माने गये हैं— इच्छा और संकल्प। इन्हीं क्रिया-कलापों की समष्टिगत देव-शक्ति है इन्द्र। देवगुणी व्यक्ति के मनोमय कोश में जो चेतन शक्ति क्रियाशील है उसे अर्जुन के रूप में चिह्नित किया गया है। अतः अर्जुन को इन्द्र पुत्र निरूपित किया गया है।

व्यक्ति के आगामी विकास के लिए मनस चेतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इस बात को महाभारत युद्ध में अर्जुन की भूमिका से इंगित किया गया है। किंतु मन की शक्ति व्यक्ति के और समष्टि के उत्थान के लिए कारगर तभी हो सकती है जब यह शक्ति श्रीकृष्ण रूप ज्ञान सत्ता के निर्देशन में कार्य करे जैसा कि महाभारतकार ने गीता प्रकरण को प्रस्तुत करके स्पष्ट

संदेश दिया है। वस्तुतः मनस चेतना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इसे आत्मज्ञान से युक्त मार्गदर्शक की आवश्यकता इसलिए होती है कि व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों में से शरीर (अन्नमय कोश और प्राणमय कोश) स्तर पर चेतना ने प्रकृति पर विजय स्थापित करके, उसे नियंत्रित करके, इन स्तरों को पर्याप्त स्व-पोषित बना लिया है किन्तु यह कार्य अभी मानसिक स्तरपर पूर्ण नहीं हुआ है। वर्तमान युग के प्रख्यात मनीषी जे. कृष्णमूर्ति ने इसी तथ्य को इस रूप में व्यक्त किया है कि हमारे मानसिक स्तर पर अभी काफी अव्यवस्था है जिसका अवलोकन करके हमें वहाँ व्यवस्था (अर्थात् ज्ञान शक्ति) स्थापित करना है। इसी बात को प्रकट करने के लिए महाभारतकार ने अर्जुन के रथ पर श्रीकृष्ण को सारथी बना कर बैठाया है।

अश्विनी देवों से नकुल-सहदेव : नकुल और सहदेव को माद्री के यमल पुत्र बताया गया है, यमल अर्थात् एक साथ उत्पन्न। हम विगत अंक में कह चुके हैं कि कुंती उच्च राजस गुणी और माद्री सात्त्विक गुणी प्रकृति को निरूपित करती हैं। इसके साथ ही अश्विनी देवों के बारे में यह जानना महत्त्वपूर्ण होगा कि एक तो इन देवों को भी ग्रन्थों में यमल माना गया है, दूसरे वे आध्यात्मिक ज्ञान के प्रदाता माने गये हैं। महाभारत में ही वैदिक मन्त्रों का सन्दर्भ देते हुए इन्हें ‘पारलौकिक उन्नति के साधन’ और ‘ज्ञानप्रदाता’ (१.३.५८ तथा ६७) कहा गया है। वस्तुतः अन्यत्र इन्हें जहाँ नेत्र-ज्योति प्रदाता के रूप में वर्णित किया गया है वहाँ भी नेत्र-ज्योति का अर्थ है ज्ञान ज्योति। इन तथ्यों के प्रकाश में हमने माद्री और अश्विन देवों से उत्पन्न नकुल-सहदेव को जीवात्मा को उपलब्ध चौथे कोश—विज्ञानमय कोश—की चेतना का प्रतीक मानते हुए इन्हें आध्यात्मिक ज्ञान के दो स्तरों का निरूपण माना है। आध्यात्मिक ज्ञान के ये दो स्तर हैं— परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान जो क्रमशः नकुल और सहदेव को निरूपित करते हैं। परोक्ष ज्ञान वह है जो हम दूसरों से सुनकर अथवा ग्रन्थों से पढ़कर बुद्धि में धारण करते हैं, तथा अपरोक्ष ज्ञान वह है जो व्यक्ति को अनुभूति स्तर पर प्राप्त हो जाता है। यह दूसरा ज्ञान ही स्थाई होता है। इस विषय पर और अधिक चर्चा हम अगले प्रकरण—‘शंखों के नामों’ की विवेचना के अन्तर्गत करेंगे।

३.२ शंखों के नाम : आध्यात्मिक अर्थ के संकेतक

युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दुर्योधन को उत्साहित करते हुए भीष्म पितामह ने सर्व प्रथम शंख बजाया था और अन्य कौरवों ने भी शंख, ढोल, नगारे आदि बजा कर उत्साह का प्रदर्शन किया था। तब श्रीकृष्ण, पांचों पाण्डवों, और इनके पक्ष के अन्य योध्दाओं ने भी प्रथक प्रथक शंख बजाकर प्रतिउत्तर दिया था। इस वर्णन में महाभारतकार ने केवल श्रीकृष्ण और पांचों पाण्डवों के शंखों के नाम वर्णित किये हैं, अन्य किसी के नहीं। श्रीकृष्ण ने पांचजन्य, युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, भीम ने पौन्ड्र, अर्जुन ने देवदत्त, नकुल ने सुघोष, और सहदेव ने मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाये (गीता-१.१५, १६)। यहाँ महाभारतकार ने शंखों के नाम देकर इन पात्रों के आध्यात्मिक प्रतीकार्थ का ही संकेत किया है।

युधिष्ठिर का शंख अनन्तविजय : युधिष्ठिर के शंख का यह नाम वस्तुतः उनकी पहचान अन्नमय कोश में स्थित चेतना के रूप में बतलाने के लिए की है। युध्दों में विजय की दृष्टि से तो यह नाम अर्जुन के शंख के लिए उपयुक्त होता। किन्तु अन्नमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर स्थित चेतना रूप युधिष्ठिर के शंख का यह नाम उपयुक्त सिद्ध हो जाता है जब हम इस तथ्य पर ध्यान देते हैं कि शरीर के क्षतिग्रस्त होने अथवा रोगग्रस्त होने पर इस चेतन शक्ति की विजय के परिणाम स्वरूप ही व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। क्योंकि रोगाणुओं से यह युद्ध तो सतत चलता रहता है, अतः शरीर में क्रियाशील शक्ति के इस कार्य को 'अनन्तविजय' नामक शंख फूंकने का प्रतीक बनाकर युधिष्ठिर की पहचान शरीरगत सात्त्विक चेतना के रूप में कराई गई है।

भीम का शंख पौण्ड्र : पौन्ड्र (=पुन्ड्र+अण) नाम लाल रंगवाली वस्तुओं (यथा इस रंग का गन्ना, कमल, तिलक) के लिए प्रयुक्त होता है। आध्यात्मिक चित्रण में नीला रंग अनन्त परम सत्ता रूप परमात्मा का (विष्णु/श्रीकृष्ण/श्रीराम नीलवर्ण हैं), पीला रंग चराचर सृष्टि का (भगवान विष्णु/श्रीराम/श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण करते हैं), लाल रंग सेवा-कर्म रूप, प्राणिक बल का प्रतीक है (श्रीराम के सेवक हनुमान तथा भगवान शिव के सेवक भैरव के तो सम्पूर्ण शरीर ही सिन्दूर पोत कर लाल बना

दिये जाते हैं, पति सेवा व्रती महिलायें भी सिर में लाल मांग (पट्टी) और भक्त लोग ललाट पर लाल तिलक धारण करते हैं। अतः भीम के शंख का पौण्ड्र नाम जीवात्मा की सात्त्विक प्राण शक्ति का द्योतक है। इस प्रकार भीम को प्राणमय कोश की सात्त्विक चेतना का प्रतीक निरूपित किया गया है।

अर्जुन का शंख देवदत्त : यह इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि मनुष्य को अन्य प्राणियों की अपेक्षा जो विशेष मनो-बौद्धिक शक्ति मिली है वह दैविक अनुग्रह है और इसका उपयोग ज्ञान युक्त कर्म (भक्ति) में करते हुए परमात्म प्राप्ति करने में है, जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा ही है। क्योंकि मनो-बौद्धिक चेतना का स्थान मनोमय कोश है अतः शंख के नाम से अर्जुन को मनोमय कोश स्थित चेतना के रूप में निरूपित किया गया है।

नकुल का शंख सुधोष और सहदेव का शंख मणि पुष्पक : सुधोष का अर्थ है उत्तम शब्द अर्थात् सुना हुआ उत्तम ज्ञान और मणि-पुष्पक का अर्थ है सुन्दर प्रकाश अर्थात् अनुभूत-ज्ञान। ये दोनों ही विज्ञानमय कोश के स्तर हैं और अध्यात्म ज्ञान के प्रभाग हैं। अन्यत्र इन्हें अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष, अथवा पर-संवेदी और स्व-संवेदी ज्ञान कहा गया है। इनके समष्टि रूपों को अश्विनी देव कहा गया है और सर्वथा एक ही संवर्ग का बतलाने हेतु इन देवों को भी ऐसा युग्मीय बतलाया गया है जो सदा सर्वदा साथ ही रहते हैं, मानो जुड़े हुए हैं। व्यष्टि स्तर पर निरूपित करने हेतु महाभारतकार ने इन्हें माद्री (सात्त्विक बुद्धि) द्वारा उक्त देव शक्तियों को आहूत करने पर प्राप्त हुए युग्म पुत्र बतलाया है। ये दोनों अध्यात्म ज्ञान के दो स्तरों—सुना हुआ बुद्धिगत ज्ञान (नकुल) और अनुभूत ज्ञान (मणि के समान स्व प्रकाशित ज्ञान, सहदेव) — को निरूपित करते हैं। इस निरूपण में हम एक महत्त्वपूर्ण संदेश भी देख सकते हैं। समष्टि स्तर पर ज्ञान के दोनों स्वरूपों (अश्विन देवों) को अभिन्न बताया गया है किन्तु व्यक्ति में अवतरित होने पर ज्ञान के ये दोनों स्तर उस रूप में जुड़वाँ नहीं रहते—युग्मित होते हुए भी नकुल को उम्र में वरिष्ठ और सहदेव को कनिष्ठ बताया गया है जिसका अर्थ है कि अध्यात्म ज्ञान का अवतरण पहले बुद्धि में और बाद में अनुभव में होता है।

श्रीकृष्ण का शंख पांचजन्य : व्यक्ति में उपरोक्त पांच चेतन स्तरों को संचालित करने वाला मूल तत्व, उन्हें जीवन देने वाली सत्ता श्रीकृष्ण हैं, अतः उनके शंख का नाम पांचजन्य बताया गया है। उन्हे इसी श्लोक (गीता १.१५) में हृषीकेश भी कहा गया है। (पाञ्चजन्यं हृषीकेशः) और हृषीकेश शब्द का अर्थ है 'आनन्द का स्वामी' वस्तुतः उस सत्ता का प्रकृति मुक्त शुद्ध स्वरूप आनन्द ही है। गीता (१४.२७) में भी इसके लिए 'सुखस्य प्रतिष्ठा' अर्थात् "आनन्द ही जिसकी पहचान है" ऐसा कहा गया है। प्रत्येक जीव जिसकी प्राप्ति हेतु जीवित रहना चाहता है वह यही सुख/ आनन्द है भले ही वह सुख कितने ही लघु रूप में उसे प्राप्त हुआ हो। मनुष्य द्वारा उसके शुद्ध शाश्वत स्वरूप की खोज ही अध्यात्म पथ है। व्यक्ति में चेतन सत्ता की उस सर्वोच्च स्थिति को ही आनन्दमय कोश कहा गया है।

३.३ पांडवों का मरण क्रम

महाभारत के 'महाप्रस्थानिक पर्व' (कुल १८ में से १७ वें पर्व) में द्रौपदी सहित पांडवों की हिमालय में गलने की एक रहस्यमयी कथा वर्णित है जो पांडवों की पहचान इस लेख में वर्णित पंचकोशों की चेतना के रूप में कराती है। इस कथा में इन पात्रों के मरने का जो क्रम है वह उससे ठीक उलटा है जो इनके जन्म का था। सब से कम आयु की द्रौपदी सब से पहले मृत्यु को प्राप्त होती है और इसके बाद आयु के बढ़ते क्रम में सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम मृत्यु को प्राप्त होते हैं। तब अकेले युधिष्ठिर की इन्द्रदेव और यमदेव से कुछ घंटों तक एक वार्ता चलती रहती है जिसके अंत में यम उन्हें देह-भाव से मुक्त होने का उपाय बताते हैं। यह वर्णन अपने भौतिक रूप में भी और आध्यात्मिक अर्थ में भी इन पात्रों की पंचकोशों में स्थित चेतना स्तरों के रूप में पहचान की पुष्टि करता है। जब व्यक्ति स्वभाविक मृत्यु को प्राप्त होता है तो सर्व प्रथम उसका ज्ञान, पश्चात् मानसिक क्रियाकलाप और फिर मांसपेशियों की शक्ति समाप्त होती है। किन्तु हृदय और श्वास बन्द होने, जिसे हम मृत्यु कहते हैं, के कुछ घंटों बाद तक भी कोशिकाओं में (अन्नमय कोश में) चेतना बनी रहती है और इसी कारण शरीर में अपघटन (decomposition) क्रियायें मृत्यु के कई

घंटो बाद प्रारम्भ होती हैं। विभिन्न स्तरों पर चेतना हास का यह क्रम पांडवों की पंचकोशीय चेतना के रूप में पहचान की पुष्टि करता है।

उक्त मरण क्रम की आध्यात्मिक विवेचना भी पांडवों की उक्त पहचान की पुष्टि करने वाली है। मरण का आध्यात्मिक अर्थ 'सांसारिक लालसाओं की समाप्ति' लिया जा सकता है। सहदेव और नकुल, जिनकी पहचान हमने आध्यात्मिक ज्ञान के स्तरों के रूप में की थी, इनमें सांसारिक वासनाओं की समाप्ति सर्व प्रथम होना सहज स्वाभाविक है। फिर समाप्ति का क्रम होगा अर्जुन से निरुपित मानसिक (मनोमय कोश की) चेतना, पश्चात् भीम रूप प्राणमय कोश की चेतना और सब से अंत में क्रम आयेगा युधिष्ठिर रूप अन्नमय कोश से संबन्धित देहभाव की समाप्ति का। देहभाव की समाप्ति तो कई जन्मों के प्रयास के बाद ही संभव होती है, ऐसा कहा गया है।

इस प्रसंग के दो वर्णन यहाँ इस लेख के विषय से सीधे सम्बन्धित नहीं होते हुए भी रोचक और आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने से उनकी विवेचना करना उचित होगा। एक है, इस यात्रा में कुत्ते का साथ रहना। वह कुत्ता अन्त तक युधिष्ठिर के साथ रहता है। इन्द्रदेव स्वर्ग में कुत्ते का प्रवेश वर्जित बताते हैं किंतु युधिष्ठिर उसे न त्यागते हुए स्वर्ग ही छोड़ देने की दृढ़ता बतलाते हैं। दूसरा वर्णन यह है कि यम देव, नचिकेता की कहानी वाली भूमिका निभाते हुए, यहाँ युधिष्ठिर को मुक्ति का मार्ग बताते हैं—त्रिलोकगामी गंगा में स्नान। यहाँ कुत्ता संभवतः उन भोग वृत्तियों का प्रतीक है जिनके रस को जीवात्मा का निम्न रूप, अन्नमय शरीरगत चेतना, छोड़ नहीं पाती (गीता-२.५९), यद्यपि ग्रंथ में कुत्ते को धर्म का रूप बताया गया है जिसका गूढ़ भाव धर्म की इस परिभाषा में छिपा है कि 'धारयति इति धर्मः'। भोग वृत्तियों को देह-चेतना जब तक धारण किये रहती है तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती और युधिष्ठिर को भी 'यमदेव' इच्छानुसार मनुष्य शरीर धारण करते रहने का 'वरदान' देते हैं और 'गंगा स्नान' के रूप में मुक्ति का मार्ग भी बताते हैं। त्रिलोकगामी गंगा है ईश्वर की त्रिगुणी माया जिसमें भ्रमण कराकर (यहाँ इसे अवगाह या स्नान कहा गया है) हृदयस्थ ईश्वर जीवात्मा को अन्ततः मुक्ति प्राप्त करा देता है (गीता-१८.६९)।

युधिष्ठिर और भीम : ऊर्ध्वगामी व्यक्तित्व के प्रथम दो कोश

पांचों पांडवों के प्रतीकार्थ को इंगित करने के लिए महाभारत में जिन सामूहिक वर्णनों का संयोजन हुआ है उनमें से कुछ की विवेचना हम पहले कर चुके हैं। अब हम इन पात्रों के व्यक्तिगत गुणों के आधार पर उस निरूपण की विवेचना करेंगे। सर्वप्रथम हम युधिष्ठिर और भीम को अपने अध्ययन का विषय बना रहे हैं तथा आगे अर्जुन और नकुल-सहदेव का अध्ययन करेंगे।

**युधिष्ठिर : अन्नमयकोश स्थित ऊर्ध्वगामी चेतना का निरूपण
प्रतीकार्थ के अनुरूप ही नाम**

युधिष्ठिर शब्द का अर्थ 'युद्ध में स्थिर' भी उपरोक्त प्रतीकार्थ के अनुरूप है। जीवात्मा की चेतन शक्ति के फलस्वरूप ही शरीर जीवित रहता है, नहीं तो भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार तो विघटन होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। शरीर अर्थात् अन्नमय कोश में जीवात्मा इन विघटनकारी शक्तियों से और रोगाणुओं से सतत युद्ध करते हुए शरीर को बनाए रखता है। अतः शरीर में जीवात्मा की इस क्रियाशीलता के परिप्रेक्ष्य में उसका युधिष्ठिर नाम सर्वथा उपयुक्त है।

ज्येष्ठ होने का अर्थ

इस कोश की महत्ता युधिष्ठिर के रूप में इस प्रकार दर्शायी गयी है कि युधिष्ठिर पांडवों में सब से ज्येष्ठ हैं। चारों छोटे भाई विशेष गुणों में उनसे श्रेष्ठ होते हुए भी उनकी आज्ञा में बंधे रहते हैं। व्यक्ति के प्राण, मन भी शरीर के अनुरूप कार्य करते हैं। शरीर स्वस्थ होने पर ही प्राण, मन स्वस्थ रहते हैं।

युधिष्ठिर के रूप में जीवात्मा की अन्नमय कोशवाली स्थिति को इंगित करने के लिए उनके अनेक उच्च गुणों के मध्य एक विपरीत गुण बतलाकर महाभारतकार ने हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित किया है। उन्हें

जूआ(द्यूत) का इतना दीवना बतलाया गया है कि उस समय मानो वे विवेकहीन ही हो जाते हैं। वे जूआ में ने केवल पैतृक राज्य हार जाते हैं, वरन् भाईयों को, स्वयं को और द्रौपदी को भी हारकर दासत्व में जकड़वा देते हैं। परिणाम यह होता है कि द्रौपदी को भरी सभा में केश पकड़कर घसीट कर लाया जाता है, दुर्योधन उन्हें वस्त्र विहीन करने का दुःशासन को निर्देश देता है और अभद्र आवाहन करता है, कर्ण दुर्योधन का ही पक्ष लेता है और दुःशासन द्रौपदी को नग्न करने का प्रयास करता है। केवल ईश्वरीय चमत्कार से द्रौपदी की लाज बचती है। विडंबना यह कि ऐसा विकट अपमान भोगकर भी युधिष्ठिर जूओं का मोह नहीं त्याग पाते। गान्धारी के कहने पर धृतराष्ट्र पांडवों को दासत्व से मुक्त करते हुए हारा हुआ राज्य और सम्पत्ति लौटा देते हैं किन्तु दुर्योधन के आवाहन पर कुछ दिन बाद ही युधिष्ठिर फिर जूआ खेलते हैं और राज्य तथा सम्पत्ति हारकर परिवार सहित तेरह वर्ष का पुनरावर्तनीय वनवास भोगते हैं। तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास में भी वे जूओं के प्रशिक्षक के रूप में ही राजा विराट के यहाँ सेवक बनते हैं। वस्तुतः युधिष्ठिर के रूप में जीवात्मा की प्रथम प्राकृत स्थिति को प्रकट करने के लिए ही युधिष्ठिर को जूओं को ऐसा दीवाना बतलाया गया है। इस कथन के स्पष्टीकरण हेतु हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में विपुलता से वर्णित जूओं के प्रतीकार्थ का खुलासा करना आवश्यक होगा।

जूआ प्रतीक है जड़ प्रकृति के ‘संयोग’ नियम का

वैदिक और पौराणिक साहित्य में जूओं के अनेक प्रसंग/उल्लेख देखने को मिलते हैं। वस्तुतः भारतीय मनीषियों ने जड़ प्रकृति के एक महत्वपूर्ण नियम को जूओं के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है। जूओं का खेल संयोग (यदृच्छा, दैवयोग) अर्थात् विज्ञान की भाषा में संभावना/प्रायिकता (Probability) के नियम का प्रतीक है। उन ऋषियों और चिंतकों ने जड़ जगत के इस नियम की पहचान करके जड़ से चेतन की विकास यात्रा के प्रारम्भिक चरण में जड़ की वरीयता बतलाने के लिए जूओं को कुछ वैदिक मन्त्रों में और पौराणिक कहानियों में स्थान दिया है। (सन्दर्भों सहित विवेचना हेतु दृष्टव्य होगा लेखक का लेख ‘प्रकृति के सम्भाव्यता नियम के आध्यात्मिक क्षेत्र में

अनुप्रयोग', ब्रह्मात्म शक्ति, अंक नवम्बर २००४, उक्त लेख के सार-सारांश की जानकारी हेतु इस लेख के अन्त में कुछ सन्दर्भ सूचित हैं)। विकास के उच्च चरणों में जूआ सर्वथा वर्जित माना गया है। इसी को इंगित करने के लिए दीपावली की अमावस्या वाली रात्री के अतिरिक्त अन्य दिनों के लिए जूओं को वर्जित किया गया है (स्कन्द पुराण-२.१)। अतः युधिष्ठिर को जूओं का अंध-भक्त बतला कर चेतना जागरण की इस प्रथम स्थिति को इंगित किया गया है जिसमें व्यक्ति जीवन को जूओं के खेल की तरह लेता है। संकेत दिया गया है कि ऐसे व्यक्ति की चेतना अभी मुख्यतः अन्नमय कोश में ही क्रियाशील है।

महत्वपूर्ण है जीवन में लक्ष्य का ज्ञान होना

जूओं के द्वारा एक ओर तो युधिष्ठिर की चेतना स्थिति को प्राथमिक चरण वाली बताई गयी है, किन्तु दूसरी ओर उनके चरित्र को बहुत उच्च गुणों से सपन बताया गया है। उनकी सहनशीलता, दृढ़ता और धीरता आदि उच्च गुण उन्हें सत्य से डिगाने नहीं देते। वे जूओं के परिणाम स्वरूप प्राप्त विषम परिस्थितियों में किंचित भी विचलित नहीं होते और बड़ी धीरता से उन परिस्थितियों को स्वीकारते हुए सत्याचरण पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित रहती है। पात्रों के चरित्र में इस प्रकार के विरोधी गुणों का दिग्दर्शन कराना महाभारतकार की विशेषता है, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ हम पुनः कहना चाहेंगे कि व्यक्ति के कुछ गुण उसके मूल स्वभाव से अर्थात् पूर्व जन्मों में उसकी विकास यात्रा के जिस मुकाम (पड़ाव) पर वह पहुँचा है उससे, और कुछ वर्तमान जन्म में चुने गये पथ से निर्धारित होते हैं।

युधिष्ठिर के उच्च गुणों का आधार उनकी सत्य निष्ठा है। यह निष्ठा तभी बनती है जब व्यक्ति को जीवन के वास्तविक लक्ष्य का ज्ञान हो और उसमें उस धर्म पथ पर चलने का दृढ़ संकल्प हो। युधिष्ठिर के नेतृत्व में पांडवों की धर्मपथ पर चलने की निष्ठा ही उन्हें श्रीकृष्ण के रूप में दैवी सहायता का हकदार बनाती है। इन पात्रों के चरित्र द्वारा एक महत्वपूर्ण संदेश यह दिया गया है कि व्यक्ति को यदि लक्ष्य का ज्ञान और उस ओर चलने का उसका संकल्प दृढ़ हो तो उसे दैवी सहायता भी अवश्य मिलती

है और उसका जीवन सफल होना सुनिश्चित है।

धर्मारूढ़ व्यक्ति के सहायक देव स्वयं बन जाते हैं

व्यक्ति का मूल स्वभाव (उसकी चेतना विकास की स्थिति) कुछ भी हो किंतु यदि उसका धर्म पथ पर चलने का संकल्प पक्षा हो तो देव शक्तियाँ स्वयं ही उसके लिए सहायक बन जाती हैं। इस तथ्य को महाभारतकार ने अनेक घटनाओं के माध्यम से प्रकाशित किया है। पांडवों(और द्रौपदी) को श्रीकृष्ण की मदद और आश्रय उनकी इसी योग्यता के कारण मिलती है। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन को अपने अपने स्वभाव का अनुसरण करते हुए धर्मपथ पर चलने पर, उनकी पैतृक/अग्रज देव शक्तियों से परीक्षोपरान्त आशीर्वाद और बल प्राप्त होने की घटनाएँ भी इसी तथ्य को उजागर करती हैं।

युधिष्ठिर की शीलता, धीरता और न्यायप्रियता की परीक्षा यम स्वयं यक्ष रूप में मायावी सरोवर की रचना करके लेते हैं। भीम आदि सभी भाई यक्ष के प्रश्नों की उपेक्षा कर मृत्यु के पाश में बंध जाते हैं, किंतु युधिष्ठिर उस अदृश्य शक्ति (यक्ष) के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाते हुए उसके सभी बौद्धिक प्रश्नों के सही उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट कर देते हैं। तब यक्ष द्वारा किसी एक भाई को जीवित कर देने का वरदान देने पर वे अपने सहोदर भाई वीर अर्जुन अथवा महाबली भीम को जीवित कर देने की प्रार्थना न करते हुए माद्री पुत्र नकुल का जीवन मांगते हैं। उनकी इस न्यायप्रियता से प्रसन्न होकर यक्ष रूप यम प्रकट होकर न केवल सभी भाईयों को पुनर्जीवित कर देते हैं, वरन् युधिष्ठिर को गले लगाकर सफलता का आशीर्वाद देते हैं। घटना के वर्णन से यह भी इंगित किया गया है कि भले ही किसी ने पूर्व जन्मों में चेतन जाग्रति की बहुत ऊँची सीढ़ी प्राप्त न की हो (अभी अन्नमय कोश वाली ही उसकी स्थिति हो), किन्तु इस जन्म में सही मार्ग पर चलने की उसकी कृत-संकल्पता के कारण वह निश्चय ही सही पथ पर है। (माम् हि पार्थ व्यपाश्रित्य, ये अपि स्युः पापयोनयः गीता-१.३२) युधिष्ठिर के जीवन-चरित्र से हमें यह संदेश दिया गया है कि व्यक्ति की पूर्व स्थिति कुछ भी हो, यदि जीवन के लक्ष्य का ज्ञान हो जावे और उस ओर चलने का उसका संकल्प दृढ़ हो जाय तो उसका जीवन सफल होना सुनिश्चित है,

जैसा कि गीता के इस उद्घृत श्लोक में कहा गया है।

वायुपुत्र भीम : प्राणमय कोश की चेतन शक्ति

वायुदेवता समष्टिगत प्राण को निरुपित करते हैं और भीम व्यक्ति की प्राण शक्ति को। प्राण अन्नमय कोश की प्रणालियों को संचालित करने वाली शक्ति है। प्राण ही शरीर में बल का संचार करता है और भीम बल के मूर्त रूप हैं। क्योंकि शारीरिक बल और भोजन का सहज सम्बन्ध है, अतः भीम को विपुल आहारी और महाबलशाली बतलाया गया है। बचपन से ही भीषण कर्म करनेवाला होने से इनका नाम ‘भीमकर्मा’ और बहुभोजी होने के कारण ‘वृकोदर’ (भैड़िये के पेट वाला, बहुत खाऊ) नाम पड़ा। लाक्षागृह में भस्म होने से बच निकलने के बाद कुन्ती सहित पांडवों को कुछ समय भिक्षान्न पर निर्वाह करना पड़ा था। वर्णन है कि उन दिनों भिक्षा में जो कुछ उपलब्ध होता, कुन्ती माँ उसका आधा भाग भीम को देकर शेष आधे में शेष पुत्रों और अपना पेट भरती थीं। वे सुस्वादु और पौष्टिक भोजन बनाने के भी विशेषज्ञ थे और वनवास के तेरहवें अज्ञातरूप से रहने वाले वर्ष में राजा विराट के यहाँ उन्होंने जो सेवा कार्य चुना वह पाकशाला का था।

भीम महान बलशाली थे किंतु उन्होंने अपने बल का हमेशा सुदपयोग ही किया। लाक्षागृह की घटना के बाद पांडवों ने माता सहित जिस ब्राह्मण के घर आश्रय ले रखा था उसको बकासुर राक्षस का भक्ष्य बनने से बचाने के लिए माता की आज्ञा से भीम उसके एवज में गये और उस राक्षस को मारकर गांव वालों की उस विपदा का अंत किया। भीम ने मल्लयुद्ध में अजेय जरासंध को, बिना शस्त्र केवल शारीरिक बल से तथा हिडिम्बासुर और महाबली कीचक का काम तमाम कर दिया था।

इन सब वर्णनों द्वारा भीम को प्राणकोश में क्रियाशील जीवात्मा की ऐसी शक्ति का मूर्त रूप चित्रित किया गया है जो सदा धर्म पालन में तत्पर है।

वायुपुत्र भीम को त्रेतायुग के अपने अग्रज पवनपुत्र हनुमान से आशीर्वाद और बल प्राप्त होने की एक रोचक कथा भी महाभारत में वर्णित

है (वनपर्व-अ. १४६ से १५१)। इस कथा का तात्पर्य यह संदेश देता है कि जैसे प्राणशक्ति या बल के अवतार हनुमान के जीवन की सार्थकता परमेश्वर के धर्मस्थापना वाले कार्य में स्वयं को समर्पित कर देने में थी, (वे 'रामकाज करिवे को आतुर' थे), उसी प्रकार व्यक्ति के बल की सार्थकता परमेश्वर कार्य में (जगत को श्रेष्ठ बनाने में) अपना योगदान करने में है। व्यक्ति में ऐसे ही बल को भीम द्वारा निरुपित किया गया है। व्यक्ति यदि अपने बल का ऐसा सदुपयोग करने के लिए कृत संकल्प हो तो उसे दैवी आशीर्वाद स्वमेव प्राप्त होता है, यहाँ भी यह आश्वासन इस प्रसंग द्वारा दिया गया है।

टृष्णव्य : जूए के अध्यात्म सम्बन्धी वैदिक/पौराणिक सन्दर्भ : ऋग्वेद संहिता (१.४७.१) में द्यूत के अक्ष (पासों के समुच्चय या सेट) द्वारा व्यक्ति की मनोबाँधिक चेतना के स्तरों को इंगित किया गया है। एक अन्य मन्त्र (२.२९.५) में द्यूत रूप भटकाव के रक्षा हेतु प्रार्थना की गई है। एक सम्पूर्ण अध्याय (सूक्त १०.१४) भी द्यूत द्वारा जीवन में होने वाले भटकाव पर और उससे बचाव हेतु प्रार्थना पर केन्द्रित है। अथर्ववेद (७.५२.१ से ९, ७.९९४.३, १२.३.४६ और ५२ में भी इसी प्रकार की प्रार्थनायें कि हमारे कर्म द्यूत में न चले जायें, संग्रहित हैं। अग्नि पुराण (२५.७.४९) में अथर्ववेद के विषय को विस्तार दिया गया है। स्कन्द पुराण (१.१.३४ वें अध्याय) में शिव-पार्वती की द्यूत क्रीड़ा से, तथा महाभारत में नल-दमयन्ति की कथाओं से भी द्यूत रूप प्रकृति के जाल से मुक्त होने की आवश्यकता को इंगित किया गया है।)

अर्जुन और नकुल-सहदेव : ऊर्ध्वगामी व्यक्तित्व के मनोमय एवं विज्ञानमय कोश

इन्द्रपुत्र अर्जुन : मनोमय कोश में क्रियाशील चेतना

अर्जुन मनोमय कोष में क्रियाशील जीवात्मा की चेतन शक्ति के प्रतीक हैं। वे देवराज इन्द्र के पुत्र हैं। पुराणों में इन्द्र को समष्टिगत मन का अधिपति देव माना गया है। मनुष्य को मनोमय कोश की जो क्षमताएँ प्राप्त हुई हैं उन्हें अर्जुन के रूप में चित्रित किया गया है।

मनोमय कोश अर्थात् मन की तीन क्षमताएँ प्रमुख हैं—इच्छा, संकल्प और विचार। इन क्षमताओं के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है और वह अकेला अथवा सामूहिक रूप से जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है उसे वह इनके द्वारा प्राप्त कर लेता है। अर्जुन इन गुणों का ही मूर्त रूप है।

लक्ष्य के प्रति एकाग्रता : धनुर्विद्या की परीक्षा—चिड़िया की आँख का लक्ष्य होने पर आँख के अतिरिक्त और कुछ न दिखने वाली मनःस्थिति द्वारा, और द्रौपदी स्वयंवर में दुष्कर लक्ष्य भेदन के विरल कौशल के रूप में दर्शाया गया है।

एक लक्ष्यता के साथ दृढ़ संकल्पशक्ति के उदाहरण इन्द्र से दिव्यास्त्र और महादेव शंकर से पाशुपत प्राप्त करने हेतु हिमालय जाकर तपस्या करने की घटनाएँ हैं। इन्द्र ने प्रकट होकर अर्जुन की एकनिष्ठता की परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग के अनुपम सुखों का प्रलोभन दिया किन्तु अर्जुन ने कहा—‘मैं भाईयों और द्रौपदी को वन में छोड़कर आया हूँ। मुझे अस्त्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये।’ इसी प्रकार महादेव शंकर से भी उन्होंने दिव्यास्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं मांगा। इन देवों द्वारा ली गई परीक्षा में अर्जुन के सफल होने पर इन्हें दिव्यास्त्र तो मिले ही, सफलता के लिए आशीर्वाद भी मिले।

मनोमय कोश की तीसरी क्षमता विचार शक्ति का उदाहरण गीता की

भूमिका में स्पष्ट है। वहाँ अर्जुन विवेक और ज्ञान से पूर्ववाली, कर्तव्यार्थत्व के सोच विचार वाली, स्थिति में है। श्रीकृष्ण भी उसे विचार के स्तर पर ही मार्ग दर्शन प्रदान करते हैं। वे सांख्य अर्थात् व्यक्ति के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण (गीता २.१३ से २५) और योग अर्थात् व्यक्ति का समानि से जो नैसर्गिक अभिन्न सम्बन्ध है उसे समझाकर कर्तव्यबोध कराते हैं (गीता २.४७ से ५३, अध्याय ३,४ विशेषतः ३.१० से १५) इसी दृष्टि को बुद्धि में और कर्म में उतारने की बात सम्पूर्ण गीता की विषयवस्तु है और इसके लिए अर्जुन को ही उपयुक्त पात्र माना गया क्योंकि वह मनोमय कोश (psyche) का मूर्त रूप है।

पौरुष रूप अर्जुन के हिजड़ा रूप धारण करने का तत्त्वार्थः विराट नगर में अज्ञात वास काल में अर्जुन बृहन्नला नाम से हिजड़ा बनकर विराट कन्या उत्तरा सहित स्त्रियों को नृत्य-संगीत सिखलाने के काम पर नियुक्त हुआ था। यह बात बड़ी विचित्र लगती है। पौरुष रूप अर्जुन द्वारा यह रूप और कार्य ग्रहण करने के वर्णन से महाभारतकार ने कौन से तत्त्व को इंगित किया है ? इस स्वाभाविक प्रश्न के समाधान हेतु व्याख्याकारों और कथाकारों ने कुछ कहानियाँ कही हैं किंतु वे समाधान प्रस्तुत करने की अपेक्षा तर्कशील मन को और अधिक उलझा देती हैं। अतः यहाँ हमें महाभारत के आधार पर ही समाधान खोजने का प्रयास करना होगा।

प्रथम हम अर्जुन के सम्पूर्ण चरित्र और 'अर्जुन' नाम के अर्थ पर विचार करें। अर्जुन=अर्ज(प्राप्त करना)+उनन् (ऊँचाई) ऊँचाई ग्रहण करने वाला। अर्जुन का पूरा चरित्र भी इसी अर्थ को प्रतिबिम्बित करता है। शिक्षा ग्रहण करने में, वचन पालन करने में, पौरुष में, वीरता में, समुचित विचार करने में, श्रीकृष्ण जैसा मित्र चुनने में, यों कहें कि प्रत्येक मानवीय गुण में वह सर्वाधिक ऊँचाई प्राप्त करता है। इस परिपेक्ष्य में विराट नगर में अर्जुन द्वारा नपुंसकता ग्रहण करने पर हम विचार करें।

विराट नगर में अर्जुन का नाम बृहन्नला है जिसका अर्थ है 'विस्तार को प्राप्त हुआ नर' (बृहन्नला=बृहत+ नल/नर)। वस्तुतः विराट नगर में अर्जुन रूप मनोचेतना विस्तार को प्राप्त हो चुकी है और सामान्य प्रजनन-

ईषना (कामवासना) वाली स्थिति से वह ऊपर उठ चुकी है। इस सम्बन्ध में महाभारतकार ने कुछ घटनाओं का वर्णन किया है जो इस कथन की पुष्टि करती हैं।

इन्द्रप्रस्थ पर शासन के समय एक दिन अर्जुन को एक ब्राह्मण के गौ-धन की रक्षा करने के लिए अपने शस्त्र उठाने के लिए युधिष्ठिर-द्वौपदी के महल में प्रवेश करना पड़ा। इससे पूर्व नारद के कहने पर पाँचों भाईयों के बीच यह नियम बना था कि प्रत्येक भाई के साथ द्वौपदी एक-एक वर्ष रहेगी और उस काल में अन्य कोई भाई द्वौपदी के कक्ष में प्रवेश नहीं करेगा। नियम भंग के प्रायश्चित्त स्वरूप अर्जुन ने १२ वर्ष की वनयात्रा पर जाने का निश्चय किया। युधिष्ठिर ने अर्जुन के इस निश्चय को नियम की भावना के अनुरूप नहीं माना किंतु अर्जुन नहीं माने। वे तीर्थ दर्शन करते हुए गंगाद्वार (वर्तमान हरिद्वार) पहुंचे। गंगा में स्नान करते समय नाग राजकुमारी उलूपी ने अर्जुन का हरण कर लिया। परिणामतः अर्जुन को एक रात्री के लिए उससे विवाह करना पड़ा(पुत्र हुआ इरावान)। तब अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए वे मणिपुर पहुंचे। वहाँ के राजा चित्रवाहन की इकलौती पुत्री चित्रांगदा से विवाह करने की उनकी इच्छा हुई। राजा ने इस शर्त के साथ पुत्री का विवाह कर दिया कि अर्जुन चित्रांगदा को और उसको होने वाले पुत्र को अपने देश नहीं ले जा सकेंगे। अर्जुन वहाँ ३ वर्ष रहे (पुत्र हुआ वभ्रुवाहन)। पश्चात् भ्रमण करते हुए वे द्वारका पहुंचे। वहाँ वसुदेव पुत्री (श्रीकृष्ण बलराम की बहिन) सुभद्रा को जीवन साथी बनाया(पुत्र हुआ अभिमन्यु)। इन तीन विवाहों में क्रमिक विकास की एक झलक स्पष्ट दिखती है। ये विवाह प्रकृति प्रेरित वासना के क्रमशः तम, रज, सत रूपों को व्यक्त करते हैं। विराट नगर में अर्जुन की काम-मुक्ति वाली सर्वोच्च अवस्था को दर्शाया गया है। अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर जब राजा विराट को अपने पुत्र से यह पता चला कि कौरवों से गौओं को बृहन्नला रूप अर्जुन ने छुड़ाया था और उनके यहाँ पांडव छद्म रूप धारण करके परिचारकों के रूप में रह रहे थे तो राजा ने क्षमा याचन करते हुए पुत्री उत्तरा को अर्जुन से ब्याहने का प्रस्ताव किया किंतु अर्जुन ने उस विवाह

प्रस्ताव को अपने लिए स्वीकार न करते हुए पुत्र अभिमन्यु के लिए मोड़ दिया। स्पष्ट ही यह घटना अर्जुन की सतोगुणी, काम से परे की, अवस्था की द्योतक है जिसे बृहन्नला नाम और भेष से इंगित किया गया है।

उपरोक्त निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि विराट नगर के अज्ञातवास से पूर्व इन्द्र और भगवान् शंकर से दिव्यास्त्र प्राप्त करने हेतु अर्जुन दीर्घकालिक तपस्या सफलता पूर्वक पूर्ण कर चुका था। कामवासना से उपर उठे बिना ऐसा तप करना संभव नहीं है।

महाभारतकार ने वास्तव में अर्जुन के चरित्र चित्रण द्वारा न केवल मनोमय कोष को निरूपित किया है, वरन् उसके विकास क्रम की एक सम्पूर्ण झाँकी हमारे समक्ष प्रस्तुत की है।

अश्विनी देवों के पुत्र नकुल-सहदेव : मनुष्य को प्राप्य ज्ञान-विज्ञान की शक्तियाँ

वैदिक और पौराणिक साहित्य में अश्विन देवों को यमल(जुड़वाँ) माना गया है। इन यमल देवों के एकल आवाहन से माद्री को नकुल और सहदेव दो यमल पुत्र साथ उत्पन्न हुए थे। हम देख चुके हैं कि माता माद्री परा प्रकृति की द्योतक हैं। अश्विन देव किस शक्ति के द्योतक है, अब इस पर विचार करें।

महाभारत में ही भूमिका कथाओं के अन्तर्गत उपमन्यु की कथा है। उसे अंधत्व से उबारने हेतु गुरु ने अश्विनीकुमार देवों की ऋग्वेद के मन्त्रोंवाली स्तुति करने का निर्देश दिया तब उपमन्यु ने जो स्तुति की है उसमें उन्हें 'पारलौकिक उन्नति के साधन' (१.३.५८), 'पंचभूतों का (बौद्धिक) ज्ञान' (१लोक ६४), और 'सनातन सत्य का ज्ञान' (१लोक ६७) करानेवाले कहा है।

अश्विन (अश्व+इन) का शब्दार्थ है घोड़ों को नियन्त्रित करने वाला। कठोपनिषद् (१.३.४) की प्रसिद्ध उक्ति है 'इन्द्रियाणि हयान् आहूः'- इन्द्रियों को घोड़े कहा जाता है। इन्द्रियें ११ हैं जिनमें ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है और इसमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करने की क्षमता है।

और मन पर बुद्धि से और बुद्धि पर परतः (अत्यन्त परे-अनुभूति कर्ता शक्ति से अथवा प्रज्ञा द्वारा नियन्त्रण होता है (गीता ३.४२))। अतः अश्विन देव मन पर नियन्त्रण करने वाली 'बुद्धि और प्रज्ञा' शक्ति को निरूपित करते हैं।

अश्विनौ शब्द वेद (ऋ-१.३४) में द्विवचन में प्रयुक्त है और नाम दस्त तथा नासत्य कहे गये हैं। उपमन्यु की उपरोक्त स्तुति में भी इन्हें इन्हीं नामों से सम्बोधित किया गया है। नकुल 'दस्त' का अंश है और सहदेव 'नासत्य' का। 'दस्त' शब्द का (वैदिक संस्कृत में) अर्थ है 'दक्षता लाने वाला' और 'नासत्य' का अर्थ है जो असत्य नहीं है' अर्थात् 'सत्य'। अतः वैदिक सन्दर्भ से ये देव दो प्रकार की ज्ञान शक्तियों के प्रतीक हैं और ये युग्म देव ज्ञान शक्ति के जिन दो रूपों को निरूपित करते हैं उनकी विशिष्ट पहचान हम इस प्रकार कर सकते हैं-

सहदेव 'नासत्य' के अंश हैं अतः यह सत्य की अनुभूति करानेवाली प्रज्ञा चेतना है जिसके बारे में गीता ने कहा है कि कर्मयोग की सिद्धि के उपरान्त उस ज्ञान को तत्त्वदर्शी गुरु से प्राप्त करना होगा(४.३४)। दूसरे भाई नकुल दक्षता प्रदान करने वाले वैदिक देव 'दस्त' के अंश होने से यह सांसारिक कार्यों में दक्षता प्रदान करने वाली बौद्धिक ज्ञान शक्ति को निरूपित करते हैं। यहाँ ज्ञान के सम्बन्ध से 'दक्षता' का विशेष अर्थ है जो गीता में समझाया गया है। गीता में एकनिष्ठ, समत्व (holistic सम्पूर्णत्व पर स्थित) बुद्धि को योग कहकर (२.४९ से ४८) योग को कर्मों में कुशलता अर्थात् दक्षता कहा गया है(२.५०)। संस्कृत में 'सम'का एक अर्थ समान अवश्य है, किन्तु यहाँ दूसरा अर्थ 'कुल/सम्पूर्ण/योग(टोटल) अभिप्रेत है, 'जो समष्टि शब्द में निहित है और यही यहाँ उपयुक्त है। वस्तुतः समत्व बुद्धि और बुद्धियोग का अर्थ है निःस्वार्थ/सर्वहित में रत बुद्धि। इस प्रकार की बुद्धि होने पर जो कर्म होंगे उनसे बन्धन नहीं होगा, वरन् वे व्यक्ति के सीमित अहंकार (ego) के गलन में भी सहायक होंगे। इसी को 'कर्मों में कुशलता/दक्षता' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि नकुल उस निष्ठावान बुद्धि को निरूपित करते हैं जो स्वार्थ से प्रेरित न

होकर सर्व हितकारी कर्मों का अर्थात् कर्मयोग का आधार है।

इन संकेताथों की पुष्टि, इन पात्रों के शंखों के नामों से तो होती ही है जिसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं, विराट नगर में अज्ञातवास के समय इन पात्रों द्वारा ग्रहण किये गये सेवा क्षेत्रों से भी होती है। यहाँ नकुल का नाम ग्रंथिक है और वह अश्वाधिकारी है। अश्व रूप इन्द्रियों का नियंत्रण (ग्रंथन) बुद्धि द्वारा होता है। सहदेव गौओं के अधिकारी हैं और यहाँ इन्होंने तांतिपाल (गौरक्षक) नाम ग्रहण किया है। गौ का एक अर्थ है 'प्रकाश किरण' या 'ज्ञान रश्मि'। अतः सहदेव ज्ञान-रश्मियों के रक्षक है अर्थात् वे अनुभूतिजन्य ज्ञान को निरूपित करते हैं।

निष्कर्ष यह कि नकुल और सहदेव मनुष्य को प्राप्य विज्ञानमय कोश अर्थात् ज्ञान शक्ति की दो स्थितियों—बुद्धिजन्य ज्ञान (परसंवेदी ज्ञान, दूसरों से सुनकर प्राप्त ज्ञान को), और अनुभूतिजन्य ज्ञान (स्वसंवेदी ज्ञान) को क्रमशः निरूपित करते हैं।

सूर्यपुत्र कर्ण : अहम् रूप जीवात्मा का अपरिपक्व रूप

(कतिपय प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों—उदाहरणार्थ ‘मृत्युञ्जय’—में कर्ण के चरित्र को बहुत ऊँचाई प्रदान की गई है। सामाजिक अन्याय से पीड़ित मानकर किया गया वह एक सहृदय चित्रण है। वह प्रस्तुति हमारी संवेदनाओं को जगाती भी प्रबल रूप से है, किन्तु हमारा मत है कि वहाँ महाभारत का कर्ण नहीं है। महाभारत हममें आध्यात्मिक जाग्रति हो इस हेतु से लिखा गया ग्रन्थ है। महाभारत का कर्ण सूर्य का पुत्र है और दिव्य कवच तथा कुण्डलों सहित उसका जन्म हुआ है जिसकी मानवीय व्याख्या न तो वहाँ की गई है और न वैसा किया जाना संभव ही था। वस्तुतः ये आध्यात्मिक प्रतीक हैं। वस्तुतः महाभारतकार ने कर्ण और अन्य पात्रों की रचना आध्यात्मिक सत्यों को प्रकाशित करने के हेतु से की है। हमें आध्यात्मिक ग्रन्थों में वर्णित पात्रों के आध्यात्मिक अर्थों का अन्वेषन करना चाहिये जिसका एक क्षुद्र प्रयास हम यहाँ कर रहे हैं।)

महाभारतकार ने कर्ण के रूप में जिस पात्र को प्रस्तुत किया है वह विचित्रताओं का महासंगम है। वह सूर्य का पुत्र है, दिव्य कवच और कुण्डल सहित उसका जन्म हुआ है। उसे बालिका कुन्ती को सूर्य ने बिना उसकी इच्छा के अपने तेज से प्रदान किया था और तत्काल उत्पन्न उस बालक को कुन्ती के द्वारा त्याग दिया जाकर वह समाज के एक पिछड़े ‘सूत’ परिवार द्वारा पाला गया था। सूर्य पुत्र होने के कारण वह वीरता, पौरुष, दानशीलता आदि कई महान गुणों से तो सम्पन्न हुआ किन्तु सांस्कृतिक परिवेश से वंचित परिवार में पालन पोषण के कारण संयोगवश मिली परिस्थितियों को सहज रूप से स्वीकार करने की क्षमता का विकास वह नहीं कर पाता है और ईर्ष्या-द्रेष से भरकर दुष्टों की टोली में शामिल हो अर्धम का पोषक बन जाता है। हम विचार करें कि इस मनोवैज्ञानिक पहलू के अतिरिक्त इस पात्र के माध्यम से महाभारतकार ने क्या कुछ आध्यात्मिक तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है?

कर्ण के माध्यम से कुछ आध्यात्मिक तथ्यों पर प्रकाश

उक्त प्रश्न का उत्तर पात्र को प्रतीक मानने पर मिल पाता है और इस हेतु से ही महाभारतकार ने उसके जन्म की कथा को अलौकिक स्वरूप प्रदान किया है। वस्तुतः यहाँ सूर्य को परमात्मा की अव्यय अनन्त चेतन/ज्ञान शक्ति का प्रतीक बनाया गया है और कर्ण के द्वारा परमात्मा के अंश से एक अपरिपक्व अहम् रूप जीवात्मा के प्रादुर्भाव को निरूपित किया गया है। सृष्टि में परमात्मा की चेतन शक्ति के जैविक विकास के रूप में जागरण के क्रम में जीवात्मा के उद्भव के प्राथमिक चरण को कर्ण के जन्म के रूप में निरूपित किया गया है। चेतना में अहम् अर्थात् ‘मैं हूँ’ इस भाव की जाग्रत्ति ही मानव को अन्य प्राणियों की अपेक्षा इस रूप में श्रेष्ठ बनाती है कि इस के कारण शरीर की मृत्यु के साथ जीवात्म-चेतना विलीन नहीं होती और पुनर्जन्म प्रक्रिया द्वारा जीवात्मा को विकास पथ उपलब्ध होता है। मनुष्य रूप में जीवात्मा की विकास यात्रा भी प्रकृति माता के सरोकार से आगे बढ़ती है। माता के दुलार से वंचित होने पर जीवात्मा का बोध विकास कैसे बाधित हो जाता है, इसे कर्ण के चरित्र से प्रदर्शित किया गया है।

कर्ण शस्त्र विद्या में, वीरता में और पौरुषता में अर्जुन से कम नहीं था और कुछ गुणों में तो उसे अद्वितीय निरूपित किया गया है, उदाहरणार्थ दानशीलता में। किन्तु संस्कार शिक्षा से वंचित रहने के कारण उसका अहम् इतना अपरिपक्व रह गया कि उसके कारण उसके उच्च गुणों का उपयोग न तो उसके स्वयं के जीवन को और न ही किन्हीं अन्य के जीवन को उच्चता प्रदान करने में सहायक हो पाया। इस सम्बन्ध में कर्ण के अहंकार की तुलना भीष्म के अहंकार, जिसकी विवेचना हम लेखमाला के प्रथम भाग में कर चुके हैं, से करना हमारे लिये उपयोगी हो सकता है।

कर्ण और भीष्म मानव में अहम् के प्रारम्भिक और अंतिम चरण

महाभारतकार ने कर्ण और भीष्म इन दो चरित्रों के माध्यम से मनुष्य के अहंकार मुक्ति पथ के दो अन्त्य छोर का निरूपण किया है। ये दोनों पात्र जीवात्मा रूप अहम् तत्त्व की विकास यात्रा के प्रारम्भिक और अंतिम सिरों का चित्रण करते हैं। इस यात्रा का प्रारम्भ गहन अहंकार से होता है जो

कर्ण की स्थिति से निरूपित की गई है और अन्त को भीष्म की स्थिति से। भीष्म पर अहंकार का इतना झीणा आवरण रह गया था कि युद्ध के नवें दिन श्रीकृष्ण के एक संकेत भर से दूर हो गया था। संकेत था श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा तोड़ना। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन की रक्षा हेतु अपनी प्रतीज्ञा तोड़कर शस्त्र उठाया तो भीष्म को ज्ञान हो गया कि मैं (भीष्म) अपनी प्रतीज्ञा के अहंकार में फंसकर कैसे अर्धमौ कौरव पक्ष का संरक्षण कर रहा हूँ जबकि श्रीकृष्ण ने धर्म पक्ष की रक्षा के लिये और मुझे (भीष्म को) भी अहंकार से मुक्त होने का संकेत देने के लिए, बिना एक क्षण का विलम्ब किये, अपनी प्रतीज्ञा तोड़ कर शस्त्र उठा लिया था। इसके बाद भीष्म ने किस प्रकार अपने कर्तव्य को पहचाना इसका विवरण भीष्म प्रकरण में दिया जा चुका है।

दूसरी ओर, कर्ण का अहंकार इतना घनीभूत था कि उसने उसकी बुद्धि को न केवल धर्म-अर्धर्म में भेद करने में अक्षम बना दिया, उसे राग द्वेष के गहन गर्त में भी धकेल दिया। वह अर्जुन से केवल इसलिये द्वेष करता है कि अर्जुन से वह अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता था किन्तु ऊँच-नीच जाति भेद की सामाजिक मान्यतायें उसे मौका नहीं देतीं। यह केवल एक संयोग था कि अर्जुन को राजकुमार के रूप में और कर्ण को सूत-पुत्र के रूप में सामाजिक मान्यता मिली थी, और इसमें अर्जुन की स्वयं की कोई भूमिका नहीं थी किंतु कर्ण को दो भिन्न अवसरों पर एक, शस्त्र कौशल प्रदर्शन के आयोजन पर और दूसरे, द्रौपदी स्वयंवर के अवसर पर भी, उसे प्रतियोगिता से वंचित रहना पड़ा था, और इससे उपजे क्षोभ ने उसे अकारण ही अर्जुन के प्रति द्वेष से इतना भर दिया कि महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ पहले जब कुंती ने कर्ण के पास जाकर उसे अपना पुत्र होने का रहस्य खोलकर अपने पाँचों पांडव भाईयों के जीवन की रक्षा की याचना की तो उसने केवल यह वचन दिया कि वह अर्जुन को छोड़कर अन्य चार भाईयों को तो नहीं मारेगा किंतु अर्जुन से निर्णायक युद्ध अवश्य करेगा जिसमें या तो अर्जुन जीवित बचेगा या वह स्वयं। वस्तुतः कर्ण के प्रति जो अन्याय हुआ था उसका कारण समाज की गलत धारणायें थीं

जिसके विरुद्ध उसने कोई आवाज नहीं उठाई और अर्जुन के प्रति तो गहरा दोष मन में बैठाया ही, पांडवों से शत्रुता रखने वाले दुर्योधन की चांडाल चौकड़ी का सदस्य बनकर पांडवों के प्रति उनके जघन्य षड्यन्त्रों में भी सक्रिय सहयोगी बना। इसी प्रकार भीष्म की, पांडवों के प्रति नैतिक कारणों से जो सहानुभूति थी उसको लक्ष्य करके वह भीष्म के प्रति भी ऐसा द्वेष रखने लगा कि पहले राजा विराट की गौ-हरण युद्ध के समय तथा बाद में महाभारत युद्ध के समय भी जब जब कौरव सेना के सेनापति भीष्म रहे, वह कौरव पक्ष के प्रति पूरी तरह से वफादार रहते हुए भी युद्धों में उसने अपने को दूर रखा। निष्कर्ष यह कि उसका द्वेष इतना गहन था कि उसकी कौरव पक्ष के प्रति जो वफादारी थी उससे कहीं अधिक प्रबल भीष्म के प्रति उसका द्वेष था। कहा जा सकता है कि उसे संयोगवश जो परिस्थितियें मिली थी उससे उत्पन्न क्षोभ ने उसके अंधे अहम से मिलकर उसके बुद्धि-विवेक को पूर्णतः आच्छादित कर दिया था।

सारांश यह कि अहंकार यदि धना हो तो संयोगवश मिली परिस्थितियाँ उसे विचलित कर देती हैं और अहंकार उसके बुद्धि/विवेक को ढककर उसे अर्धर्म रूप पतन के मार्ग पर धकेल सकता है, इसका चित्रण कर्ण के जीवन चरित्र में भलीभांति हुआ है। परिस्थितिवश अपनी योग्यता प्रदर्शन का मौका न मिलने की घटनाओं ने उसके अहंकारी मन को भी कटुता और रागद्वेष से ऐसा भर दिया था कि दुर्योधन से उपकृत होकर वह पांडवों के विरुद्ध उस दुष्ट के प्रत्येक षड्यन्त्र और कुचालों में प्रमुख सहयोगी बन गया। पांडवों को वारणावत भिजवा वहाँ लाक्षागृह में उन्हें जला कर मार डालने के घिनौने प्रयास में, जुओं का कूट रचकर पांडवों से उनके द्वारा विकसित किये गये इन्द्रप्रस्थ के साम्राज्य को लूट लेने के षड्यन्त्र में उसकी सक्रिय भूमिका को, द्रौपदी चीर हरण की घटना में उसका सहयोग और उस समय बोले गये उसके अशिष्ट वचनों को, पापपूर्ण तरीके से निःशर्त अभिमन्यु के वध में उसकी भूमिका आदि ऐसी अनेकों घटनाओं को विनित करके महाभारतकार ने मानव जीवन के इसी पक्ष को उजागर किया है।

कर्ण के कवच/कुण्डलों का प्रतीकार्थ

कर्ण जीवात्मा के उद्भव का प्रतीक है इसे इंगित करने के लिए महाभारतकार ने दो अतिरिक्त प्रतीकों की भी रचना की है। जन्म से ही कर्ण दिव्य कवच और कुण्डलों से विभूषित था जो उसके जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थे यह भी वर्णन किया गया है। आईये इन प्रतीकार्थों का अन्वेषण करें।

कवच प्रतीक है सुरक्षा का। वैदिक और पौराणिक साहित्य में अनेक प्रकार के कवचों के लिए प्रार्थनायें हैं अथवा उनके उल्लेख हैं जिनमें ऋग्वेद, अर्थवेद, तैत्तरीय संहिता और तैत्तरीय आरण्यक के कोई २५ संदर्भ 'पुराण विषय अनुक्रमणिका' में विपिन कुमार व राधा गुप्ता ने संकलित किये हैं। इनके अतिरिक्त पुराणों में 'नारायण कवच', 'रामरक्षा स्तोत्र' जैसी अनेक रचनाएं हैं जिनके नित्य पाठ भी किये जाते हैं। इनका अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि कवच प्रतीक है उस सुरक्षा व्यवस्था का जिसकी आवश्यकता जीवात्मा को उसकी विकास यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर होती है। जीवात्मा जैसे जैसे विकास पथ पर अग्रसर होता है, वैसे वैसे वह पूर्व कवच को छोड़ नया कवच धारण करता है। उसे उसकी यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर एक नया कवच मिलता है जिसे वह तब तक धारण करता है जब तक वह अगली स्थिति प्राप्त करने योग्य न हो जावे। इसे हम हमारे वर्तमान जीवन के अनुभव से भी समझ सकते हैं। जीवन के प्रति हमारी दृष्टि/समझ भी हमें एक समय सीमा के लिए मानसिक स्तर पर सुरक्षा प्रदान करती है और हम उसे बदलते हुए ही जीवन की विकास यात्रा में आगे बढ़ते हैं। उक्त ग्रन्थों में जिन अनेक कवचों का वर्णन हुआ है उनमें अन्तिम कवच को ब्रह्म कवच कहा गया है जिसका तात्पर्य है जीवात्मा को ब्रह्मभाव की प्राप्ति जो उसे दुःखप्रद संसार में आवागमन के भय से सदा के लिए सुरक्षा प्रदान कर देती है। निष्कर्ष यह कि कर्ण को जन्म से ही कवच प्राप्त होने का जो वर्णन है उसका तात्पर्य है कि जीवात्मा को उसकी विकास यात्रा में जब जैसी आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है वह उसे ईश्वरीय विधानानुसार मिलती जाती है। वस्तुतः जीवात्मा को पुनर्जन्म प्रक्रिया की जो सौगात

मिली है वह भी उसके आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रदान किया गया एक कवच ही है।

कुंडल प्रतीक है जीवात्मा को उपरोक्त लक्ष्य प्राप्त करने के लिये प्रदान की गई ज्ञान और कर्म की दो क्षमतायें। भागवत पुराण (१२.११.१२) में भी कहा गया है कि भगवान स्वयं भी सांख्य (अर्थात् ज्ञान) और योग (अर्थात् कर्मयोग) रूप दो मकराकृत कुण्डल धारण करते हैं। पद्म पुराण (५.१९.१८) में कहा गया है कि जड़ आभूषणों की उपेक्षा करके सत्य व धर्म अर्थात् ज्ञान और कर्म रूप कुंडलों को धारण करना चाहिये। महाभारत की भूमिका कथाओं के अन्तर्गत वर्णित उत्तंक की कथा में भी तक्षक नाग (अर्थात् अहंकार) द्वारा कुंडल चुरा लेने, तथा अन्य कई पौराणिक कथाओं में भी कुंडल इन्हीं शक्तियों/क्षमताओं के प्रतीक रूप में वर्णित किये गये हैं।
कर्ण के चरित्र द्वारा महाभारतकार का हमारे लिए सन्देश

कर्ण के कुंडल सहित जन्म लेने के वर्णन का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को ज्ञान और कर्म की जो दो क्षमतायें प्राप्त हुई हैं इन दोनों का समुचित उपयोग करके ही जीवन को ऊर्ध्वगमी बनाया जा सकता है। किसी एक के भी अभाव में जीवन लक्ष्यच्युत हो जाता है। गीता, भागवत, रामायण, योगवाशिष सहित सभी वैदिक मार्ग के ग्रन्थों का यही सार है जिसे महाभारत-गाथा में कर्ण के चरित्र द्वारा भी इंगित किया गया है। कर्ण में कर्म की अद्भुत क्षमता है। शस्त्र विद्या की उसने ऐसी साधना की है कि इस क्षेत्र में उसका कोई सानी नहीं है किन्तु ज्ञान को उसके अहंकार ने पूर्णतः ढक दिया है जिसके कारण दुष्ट दुर्योधन की संगत में पड़कर वह अधर्म का पोषक बन गया। वस्तुतः इस चरित्र के माध्यम से हमें यह बतलाया गया है कि जीवन में ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही जीवन को सही दिशा और सफलता प्राप्त हो सकती है तथा ज्ञान का भक्षण कर लेना वाला प्रबल शत्रु है अहंकार जिससे हमें सदा सावधान रहना होगा।

द्रौपदी और सुभद्रा : शुभकर्मा मनुष्य को माया

और भक्ति की मंगलकारी भेंट

द्रौपदी का चरित्र विचित्रताओं और विपरीत गुणों से भरपूर है। जन्म यज्ञाग्रि से हुआ है। स्वयंवर में अर्जुन ने इन्हे जीता किन्तु विवाह पांचों पांडवों से होता है। कभी इन्द्रप्रस्थ की महारानी बनी तो हस्तिनापुर की राज्यसभा में वीर पतियों, और भीष्म, द्रोण जैसे महापुरुषों की उपस्थिति में घोर अपमानित भी होती है। कभी धैर्य और क्षमा की मूर्ति है तो कभी प्रतिशोध की न बुझनेवाली अग्नि है। नीच दुःशासन के दुर्व्यवहार और अपमान का बदला लेने की भावना की आग को धथकती रखने के लिए प्रण लेती है कि वह अपने केश तब तक खुले रखेगी जब तक की दुःशासन के लहू से उन्हें धो न ले। विराटनगर में दृष्ट महाबली कीचक की कुदृष्टि का उत्तर वह भीम से उसे मरवा कर देती है। दूसरी ओर अपने पांच युवा पुत्रों की निद्रावस्था में क्रूर हत्या करनेवाले अश्वथामा को इस कारण जीवनदान दिलवाती है कि पुत्रों के वध का जैसा दारूण दुःख वह भोग रही थी वह अश्वथामा की माता को न भोगना पड़े। द्रौपदी चरित्र की इन विचित्रताओं का रहस्य उनके प्रतीकार्थ से ही स्पष्ट हो पाता है।

वे राजा द्रुपद की यज्ञ से प्राप्त हुई पुत्री हैं इसलिए यज्ञसेनी भी कहलाती हैं। द्रुपद शब्द का अर्थ है तुरन्त पलटवार करना। राजा द्रुपद ने द्रोण से हार और अपमान का बदला लेने के लिए ही यज्ञ किया था जिसकी अग्नि से द्रौपदी और धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुए थे। द्रौपदी के चरित्र के एक अंश में द्रुपद का वह गुण देखा जो सकता है किन्तु सम्पूर्ण चरित्र रहस्यपूर्ण ही बना रहता है।

द्रौपदी का एक नाम कृष्णा भी है और वह भगवान् कृष्ण की स्नेहिल बहिन है। वस्तुतः यहाँ प्रकृति के एक भिन्न रूप को दर्शाया गया है। प्रकृति के मातृ रूप का वर्णन सर्वत्र मिलता है। वह भगवत्-पत्नी रूप है जो हमारी माता है। उसका कार्य भगवान् की इच्छानुरूप सृष्टि में प्राणियों का निर्माण

करके उनमें चेतना जाग्रत करना है। इस हेतु से उसने प्राणियों का विकास करते हुए मनुष्य को पंचकोश प्रदान किये हैं। प्रकृति के उस रूप को कुन्ती निरूपित करती है, किन्तु द्रौपदी/सुभद्रा के रूप में प्रकृति भगवान की बहिने हैं। द्रौपदी पंच पांडव रूप पंचकोशधारी मनुष्य को विवाही गई हैं।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य में प्रकृति की भूमिका की व्याख्या हेतु महाभारतकार ने उसके भगवत्-भगिनी रूप की अवधारणा प्रस्तुत की है। इसके भी दो रूप हैं—द्रौपदी और सुभद्रा। द्रौपदी भगवान की स्नेहिल बहिन है तो सुभद्रा लाडली मातृजा बहिन। भगवान ने इन्हें मनुष्य को पत्नीरूप में सौंपा है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठतम क्षमताओं से युक्त है इसलिए प्रकृति अपने इस पुत्र को अन्य प्राणियों के समान सदा अंगुली पकड़कर नहीं चलाती। प्रकृति की जो छत्र-छाया उसको मिली है वह हमेशा माता जैसी न होकर पत्नी जैसी हो जाती है। पत्नी की भूमिका माता से थोड़ी भिन्न होती है। वह पति को अपनी मति अनुसार प्रेरित अवश्य करती है किन्तु अन्ततोगत्वा पति के निर्णयानुसार कार्य को सम्पन्न करने में सहयोग देती है। द्रौपदी और सुभद्रा रूप प्रकृति भी व्यक्ति की उन वृत्तियों को ही ऊर्जा प्रदान करती है जिनको व्यक्ति महत्व देता है। यही पत्नी रूप में उनकी भूमिकायें हैं।

द्रौपदी और सुभद्रा की भूमिकाएँ भी भिन्न हैं। द्रौपदी अर्जुन सहित पांचों पांडवों की पत्नी है अर्थात् वह व्यक्ति के पांचों कोशों के लिए प्रेरक शक्ति है। अर्जुन रूप मन के लिए द्रौपदी और सुभद्रा दो प्रेरक शक्तियाँ हैं। द्रौपदी माया है, सुभद्रा को हम भक्ति मान सकते हैं। माया मनुष्य को संसार में त्रिगुणी जीवन जीते हुए उसे धीरे धीरे परमात्मा की ओर प्रेरित करती है (गीता ७.१२, १८.६९)। द्रौपदी के चरित्र में तीनों गुणों की छाप स्पष्ट दिखती है।

व्यक्ति की ज्ञानरहित स्थिति में माया रूप द्रौपदी व्यक्ति को संसार में प्रवृत्त करती है। वह चेतना के प्रत्येक स्तर (पांच कोषों) में लहर उठाकर व्यक्ति को संसार में प्रवृत्त करती है। द्रौपदी के आचरण में इसीलिए बड़ी विभिन्नतायें दिखती हैं। द्रौपदी में क्रोध है, अपमान का बदला लेने

का भाव है, करुणा है, दया है, साथ ही विपत्ति में आर्त पुकार द्वारा परमेश्वर की प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त कर लेने की सामर्थ्य भी है। यह क्षमता चीर हरण, दुर्वासा मंडली के भोजन प्रबन्ध आदि अनेक प्रसंगों में प्रकट हुई है।

ज्ञान होने पर, ईशावास्य इदं सर्वम् पर गहरी श्रद्धा हो जाने पर, व्यक्ति को प्रकृति का जो दूसरा रूप, कर्म की प्रेरणा देता है वह है-भक्ति रूप सुभद्रा। भक्ति का वास्तविक स्वरूप ज्ञान सहित कर्म है। महाभारतकार ने गीता (१२.६ से १२) में भक्ति के इसी स्वरूप का प्रतिपादन किया है। इस प्रेरणा का क्षेत्र क्योंकि मनोमय कोश है अतः परा प्रकृति रूप सुभद्रा को भगवान ने अर्जुन को सौंपा है। किंतु अर्जुन गीता का ज्ञान जीवन में उतारने से पूर्व सुभद्रा का साथ द्वौपदी के समान नहीं निभा पाते। वनवास काल में द्वौपदी पांडवों के साथ रहती है किन्तु सुभद्रा को इस काल में द्वारका भिजवा दिया जाता है।

द्वौपदी के पाँच पति होने के प्रतीकार्थ को और गुणों के रूप में उसके प्रकृति स्वरूप को इंगित करने वाली एक कहानी द्वारा भी व्यक्त किया गया है। जम्बू-फल व्रत सम्बन्धी इस कहानी में द्वौपदी ने श्रीकृष्ण के कहने पर अपने स्वर्धर्म का वर्णन करके प्रार्थना की थी तो वृक्ष से तोड़ा गया जम्बू-फल पुनः वृक्ष पर लग गया था। द्वौपदी ने कहा था कि, 'मैं पांच देवी शक्तियों का अवतार हूँ। यम पत्नी श्यामला, वायु पत्नी भारती, इन्द्र पत्नी शची, अश्विन कुमारों की पत्नी ऊषा, और महाकाली के अंशों को सम्मिलित रूप हूँ। मेरे प्रथम चार अंश तो पांच पांडवों को पति बनाकर संतुष्ट हैं किंतु मेरा महाकाली अंश छठे पति रुद्र की आकांक्षा करता है (अर्थात् दुष्टों का नाश होने पर ही मेरा वह अंश संतुष्ट होगा)। सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य में पत्नी को प्रतीक बनाया गया है पुरुष की क्रियाकारी शक्ति का। अतः द्वौपदी व्यक्ति के पांचों कोशों को क्रियाशील बनाने वाली प्राणिक शक्ति है, यही दर्शाया गया है।

द्वौपदी-पांडवों के प्रतीकार्थों को स्पष्ट करती कुछ घटनाएँ

हिमालय की अन्तिम यात्रा : द्वौपदी सहित पांडवों के हिमालय में

जाकर गलने की घटना का जो वर्णन है वह भी उपरोक्त प्रतीकार्थ की पुष्टि करता है। उस अन्तिम यात्रा में इन पात्रों के गिरने का जो क्रम वर्णित है वह चौंकानेवाला है। वह क्रम न तो शारीरिक बल के अनुसार है और न उम्र के अनुसार ही अर्थात् शरीर के वृद्ध होने के क्रमानुसार। वस्तुतः यह वर्णन इस वैज्ञानिक तथ्य के अनुरूप अवश्य है कि मनुष्य को विकास के जिस क्रम में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि पंचकोश मिले हैं, मृत्यु के समय उसकी ठीक उल्टे क्रम में उक्त क्रियाएँ बन्द होती हैं। सबसे पहले शारीरिक बल अर्थात् भौतिक शक्ति क्षीण होती है तब मानसिक क्रियाएँ (मृत्युशश्या पर पड़े व्यक्ति से बन्धुजन पूछते हैं 'मुझ को पहचानत हो' छान्दो.-८.६.४- में भी यह क्रम वर्णित है।) इसके पश्चात् प्राणिक क्रियाएँ बन्द होने पर मृत्यु होना प्रमाणित हो जाता है किन्तु कोशिकाओं (अन्नमय कोश) की क्रियाशीलता कई घन्टे बाद तक समाप्त नहीं होती। द्वौपदी और पांडवों की उस अन्तिम यात्रा में मृत्यु प्राप्त करने का भी ठीक यही क्रम दर्शाया गया है। स्पष्ट ही इस वर्णन के द्वारा भी महाभारतकार ने पांचों पांडवों को मनुष्य के पांच कोशों के रूप में और द्वौपदी को इन कोशों को क्रियाशील बनाने वाली प्राणिक ऊर्जा के रूप में इंगित किया है, जो इस यात्रा में सबसे पहले मृत्यु को प्राप्त होती है।

द्वौपदी-पाण्डवों का देवलौकिक सम्बन्ध : महाभारतकार ने द्वौपदी-पांडवों के प्रतीकार्थ पर उनके देवलौकिक सम्बन्ध का वर्णन करके भी प्रकाश डाला है (१.१९२-१९६)। जब द्रुपद को ज्ञात हुआ कि पांडवों की माता के मुख से अनजाने में निकले शब्दों का अक्षरशः पालन करने का आग्रह रखते हुए पांचों भाई द्वौपदी के साथ विवाह करने का विचार कर रहे हैं तो द्रुपद अत्यन्त व्यग्र हो उठे। उन्होंने युधिष्ठिर को स्पष्ट शब्दों में कहा- 'एक झी के एकाधिक पति हों ऐसा लोक और वेद मर्यादा दोनों के विरुद्ध होने से यह कार्य अर्थम् होगा' (१.१९४.२८)। उसी समय महर्षि व्यास आये। उन्होंने द्रुपद को पांडवों और द्वौपदी का देवलौकिक सम्बन्ध बतलाकर उसका दर्शन (१.१९६) कराया। पांचों पाण्डव पूर्व काल में स्वर्ग के पांच इन्द्र थे और द्वौपदी उन पांचों इन्द्रों की लक्ष्मी रूप एक पत्नी थी। इन्द्रों में

अहंकार आ जाने के कारण भगवान शिव ने उन्हें पृथ्वीलोक में पांच पांडवों के रूप में और उनकी पत्नी लक्ष्मी को द्रौपदी रूप में जन्म लेना निर्धारित किया था। उस रहस्य को जान लेने पर ही द्रुपद द्रौपदी का विवाह पांचों पांडवों से करने के लिए तत्पर हुए थे।

व्यासजी ने उन पांच इन्द्रों के नामों का भी उल्लेख किया है। ये नाम भी व्यक्ति के अन्नमयादि पांच कोशों को इंगित करते हैं। इन्द्रों के नाम हैं— विश्वभुक, भूतधामा, प्रतापी इन्द्रशिवि, शान्ति और तेजस्वी। विश्वभुक का अर्थ है सर्वोपभोक्ता अर्थात् सब कुछ खाने वाला। इसे शरीर अर्थात् अन्नमय कोश के रूप में समझना युक्तियुक्त है। दूसरा इन्द्र है भूतधामा अर्थात् जिसके आश्रय से प्राणी जीवित रहते हैं अर्थात् प्राण। तीसरा है प्रतापवान इन्द्र 'शिवि' अर्थात् महत्वपूर्ण कल्याणकरी (शिवि) ऊर्ध्व मन। चौथे और पांचवें इन्द्रों के नाम शान्ति और तेजस्वी विज्ञानमय कोश के दो स्तरों— परोक्ष जान और अपरोक्ष ज्ञान— को इंगित करते हैं।

पांचों इन्द्र रूप पांडव व्यक्ति के पांच कोशों के स्वामी (इन्द्र=स्वामी) हैं और स्वर्ग की लक्ष्मी रूप द्रौपदी प्रकृति की भौतिक शक्ति है जो व्यक्ति के कोशों को क्रियाशील बनाती है।

घटनाओं में व्यास के हस्तक्षेप का आध्यात्मिक संकेतार्थ

ग्रंथ में उपरोक्त घटना के समान अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन आता है कि महर्षि व्यास ने प्रकट होकर घटना को असामान्य स्वरूप देने में स्वयं हस्तक्षेप किया या मार्गदर्शन दिया। ऐसे प्रसंगो का वर्णन करने का संकेत यह है कि यदि साधारण भौतिक दृष्टि से घटना समझ में नहीं आ रही है तो हमें उसे महर्षि की आध्यात्मिक दृष्टि से समझने का प्रयास करना होगा।

संसार चक्र को निरुपित करने वाले पात्र

उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्यों के जीवन को उनके ज्ञान और कर्म के मान से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—१. मानसिक और आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होने वाले (सात्त्विक) पुरुष, २. जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते रहने वाले (राजसिक) पुरुष, ३. निकृष्ट कर्मों/वृत्तियों के अनुरूप कम विकसित योनियों में गिरने वाले (घोर तामसिक) पुरुष।

अभी तक जिन पात्रों का हम अध्ययन कर चुके हैं उनमें से भीष्म, पांडव आदि अधिकांश पात्र प्रथम श्रेणी वाले थे। इस लेख में हम द्रोणाचार्य, द्रुपद आदि उन कुछ पात्रों का एक संक्षिप्त अध्ययन करेंगे जो अपनी तकनीकी योग्यता के कारण प्रथम दृष्ट्या तो उच्च कोटि के प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में उन्हें दूसरी (रजोगुणी) श्रेणी से ऊपर नहीं रखा जा सकता। दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि जैसे जन्मजात अथवा कर्ण जैसे कुसंगति से बने दुष्ट पात्रों को हमें तमस श्रेणी में रखना होगा।

महाभारतकार ने उक्त तामसिक पात्रों से भी निकृष्ट एक और निम्नतम श्रेणी के मनुष्यों की ओर भी ध्यान आकर्षित करने के लिए जिन दो को पात्र बनाया है वे हैं अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिन पर मौत ने भी कृपा नहीं की। मानवता के इन जघन्य अपराधियों के विकास की निकट भविष्य में सम्भावना नहीं देखते हुए उन्हें अपने पाप का प्रायश्चित्त करते रहने के लिए ग्रन्थकार ने अनिश्चित काल के लिये उन्हें जीवित रहने के शाप से ग्रस्त बताया।

द्रोणाचार्य

महाभारत की कथा को हम शुद्ध मानवीय इतिहास न समझते हुए उसके आध्यात्मिक तात्पर्य को हृदयंगम करें इस हेतु ग्रन्थकार ने प्रत्येक प्रमुख पात्र की उत्पत्ति दैवीय चमत्कार से युक्त बतलाई है। द्रोणाचार्य नामक पात्र की उत्पत्ति भी अयोनिज बतलाई गई है। द्रोण अर्थात् पानी रखने के बरतन में रख दिये गये ऋषि भरद्वाज के वीर्य से जो बालक उत्पन्न हुआ उसका नाम ऋषि ने द्रोण रख दिया जो बड़ा होकर द्रोणाचार्य नाम से विख्यात हुआ।

महाभारत में द्रोणाचार्य को भीष्म पितामह के बाद सर्वाधिक सम्माननीय और महत्वपूर्ण पात्र के रूप में चिह्नित किया गया है, ऐसा प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है। किन्तु जब हम वर्णित घटनाओं का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, तो हमारी धारणा बदल जाती है। उनकी जो सम्माननीय स्थिति बताई गई है वह उनके अति विशिष्ट शक्ति ज्ञान के कारण थी, किन्तु कुछ वर्णित घटनायें उन्हें एक सामान्य मनुष्य के समान दिखाती हुई हमारे मन को झकझोर देती हैं। जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, महाभारत ग्रन्थ में पात्रों के चरित्र चित्रण करने में लेखक ने एक विशिष्ट शैली का आविष्कार किया है। जिस प्रकार किसी सुन्दर चित्र पटल पर एक बदसूरत बदरंग धब्बा अथवा बदरंग पटल पर एक सुन्दर छवि हमारे मन को तुरन्त और प्रभावी रूप में आकर्षित करती है, इसी शैली का उपयोग ग्रन्थकार ने पात्रों के चरित्र चित्रण में किया है। वे प्रत्येक प्रमुख पात्र में अनेक उत्कृष्ट गुणों के मध्य एक अवगुण अथवा अनेक अवगुणों के मध्य एक सुन्दर गुण को उभार कर हमारे मन में उस गुण को ग्रहण करने की इच्छा और अवगुण से दूर रहने की जुगुप्सा जाग्रत कर रहे होते हैं। द्रोणाचार्य के चरित्र में उन्हें उत्कृष्ट से सामान्य बनाने वाला वह कौन सा अवगुण है इसी का हम यहाँ शोधन करेंगे।

उत्कृष्ट गुणों के बीच आसक्ति रूप एक कमी का चित्रण

द्रोणाचार्य में अनेक उत्कृष्ट गुण हैं। वे अजय योद्धा हैं। शक्ति विद्या में उनका कोई सानी नहीं है। उन्होंने धनुर्वेद का अध्ययन किया, मुनि अग्निवेश से आग्रेयास्त्र की शिक्षा ली और भूगुनन्दन महर्षि परशुराम से ब्रह्मास्त्र सहित सभी दिव्यास्त्रों का शिक्षण प्राप्त करके शस्त्रास्त्र विद्या में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया। इसी कारण उन्हे हस्तिनापुर के कौरव-पांडव राजकुमारों को शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देने का दायित्व मिला था। वे न केवल एक उत्तम शिक्षक सिद्ध हुये, वे भीष्म और राजा धृतराष्ट्र के विश्वसनीय बनकर राज्यसभा में भी उन्होंने उच्च स्थान प्राप्त किया। महत्वपूर्ण मामलों में जब कभी उनसे परामर्श लिया जाता तो वे न्याययुक्त बात का समर्थन करते, किन्तु इस बात का ध्यान रखते कि कहीं उनकी बात से राजा धृतराष्ट्र अप्रसन्न न हों, अन्यथा वे चुप्पी साथ जाते (द्रौपदी चीर हरण के समय उनकी चुप्पी की चर्चा हम आगे करेंगे)। इन

अनेक गुणों के बीच उनके व्यक्तित्व में जो यह स्वार्थ से बंधे होने की एक नकारात्मकता थी, और हम में से भी अधिकांश अभी जिससे अपने को मुक्त नहीं कर पाये हैं, वह बहुधा आसक्ति के रूप में प्रकट होती है। यह अध्यात्म के रास्ते में एक बड़ी बाधा है। वस्तुतः आसक्ति भी हमारे संकुचित अहम् रूप “मैं” का ही एक रूप है जो “मेरा/मेरी” के रूप में वस्तुओं/व्यक्तियों को अपने लिये उपयोगी मानकर उन्हें पकड़ना चाहता है। हमारा “मैं” जब किसी अन्य वस्तु/व्यक्ति को अपने लिये अधिक उपयोगी मानता है तो वह पहली को छोड़कर दूसरी को पकड़ने का पूरा प्रयास करता है। द्रोण के जीवन में हमें इसके कई उदाहरण दिखाई देते हैं।

1. अपनी वंशागत श्रेष्ठता पर आसक्ति और फिर बड़े स्वार्थ की पूर्ति हेतु इस का त्याग कर दिये जाने की घटना द्रोणाचार्य की जीवनी में वर्णित की गई है। द्रोण को अपनी पैतृक श्रेष्ठता पर इतना अभिमान था कि पिता के देहावसान के बाद जब उन्हें दरिद्रता ने घेर लिया तो उन्होंने धनार्जन हेतु सेवा कार्य करना उचित नहीं समझा क्योंकि उनका विचार था कि धन के लिये दूसरों की सेवा करना अत्यन्त नीच कार्य है। किन्तु जब वे पुत्र के लिये दूध की व्यवस्था नहीं कर सके तो उन्हें इस झूठे अहंकार का परित्याग करना पड़ा था। परन्तु उससे पूर्व अपनी वंश-श्रेष्ठता के उस विचार ने उन्हें किस बुरी तरह उलझाया इसे नीचे लिखे घटना-क्रम के द्वारा व्यक्त किया गया है।

2. वे पुत्र (बालक अश्वत्थामा) और पत्नि को लेकर अपने बाल्यकाल के मित्र राजा द्रुपद के यहाँ गये। द्रुपद और द्रोण साथ पढ़े थे और द्रुपद से, जो उत्तर-पांचाल राज्य के राजा पृष्ठत का पुत्र था, द्रोण ने ऐसी गहरी मित्रता स्थापित की कि एक दिन द्रुपद ने द्रोण को पक्षी मित्रता का विश्वास दिलाते हुए कहा कि भविष्य में मुझे (द्रुपद को) जब राजसिंहासन मिलेगा तब द्रोण राज्य सुख भोगने हेतु आयेंगे तो वे उसके हकदार होंगे। कालान्तर में द्रुपद तो राजा बन गये और द्रोण गरीबी की एक घटना से अत्याधिक आहत हुये तब वे द्रुपद के उक्त कथन को स्मरण करके उससे मिलने पहुँचे। जिस घटना ने द्रोण को विचलित कर दिया था वह यह थी। एक दिन द्रोण घर लौटे तो देखा कि बालक अश्वत्थामा को, जिसने कभी दूध चखा ही नहीं था, दूसरे बालक

उसे दूध के नाम से आटा घुला पानी देकर विमोहित कर रहे थे और यह बालक उस पानी को दूध समझ कर पीकर हर्ष से यह कहता हुआ नाच रहा था कि 'अहा! मैंने दूध पीया'। द्रोण के मन को बहुत चोट लगी किंतु क्योंकि वे धन के ऐवज़ में दूसरों की सेवाकरना नीच कर्म मानते थे इस कारण वैसा न करते हुए वे द्रुपद के यहाँ पहुंचे। किंतु द्रुपद ने यह कह कर कि मित्रता तो बराबर वालों में ही रहती है, उन्हें अपमानित करके लौटा दिया। तब द्रोण वैतनिक सेवा कभी भी न करने का विचार त्याग कर हस्तिनापुर चले गये। वहाँ अपने साले कृपाचार्य, जो राजा के यहाँ राजकुमारों की शिक्षा के लिये नियुक्त थे, के घर पर रहने लगे। जब भीष्म और धृतराष्ट्र को यह जानकारी मिली कि महर्षि परशुराम से शक्त्रास्त्र का ज्ञान प्राप्त किये हुए द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में ही रह रहे हैं तो उन्होंने द्रोण से मिलकर कौरव-पांडव राजकुमारों को शिक्षा देने का सादर आग्रह किया जिसे द्रोण ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार परिस्थितियों ने द्रोण को अपने पूर्व संकल्प से हटने पर मजबूर कर दिया।

आगे का घटना क्रम बतलाता है कि अभिमान कभी हारता नहीं, मायावी रूप धारण कर मनुष्य को चलाता रहता है, वह कभी प्रतिशोध तो कभी आसक्ति का रूप धारण कर लेता है।

3. राजकुमारों के शिक्षण काल में द्रोणाचार्य की आसक्ति उन्हें किस प्रकार नचाती है इसे आध्यात्मिक दृष्टि से (अर्थात् हमें अपने अन्तर में झांककर) देखना हमारे लिये श्रेयस्कर होगा। राजकुमारों को शक्त्रास्त्रों का शिक्षण देते समय वे पुत्र अश्वत्थामा को भी उनके साथ ही शिक्षण देते थे। राजकुमारों को पानी लाने जैसे कार्य से अथवा उन्हें खेल आने का कहकर जब उन्हें बाहर भेज देते उस समय वे पुत्र को कुछ विशेष दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्रदान करते थे। वस्तुतः आसक्ति वश अपात्र को दिया गया, संभवतः ब्रह्मास्त्र का, यह ज्ञान अश्वत्थामा से कैसा अपकर्म करवाने वाला सिद्ध होता है कि उसके फलस्वरूप, कहा जाता है कि अश्वत्थामा आज भी प्रायश्चित की आग में जल रहा है।

4. अर्जुन राजकुमारों में सब से अधिक मेधावी और कर्मिष्ठ (कर्मठ) था, वह शीघ्र लौट कर अश्वत्थामा को दिये जाने वाले विशेष शिक्षण में

शामिल हो जाता। उसकी विशेष रुचि और योग्यता से प्रभावित होकर गुरु द्रोण उसे भी दिव्यास्त्रों की शिक्षा देने लगे। द्रोणाचार्य की पुत्र के प्रति विशेष आसक्ति और फिर अर्जुन तक उसका फैलाव वस्तुतः द्रोण के अन्तस में उपस्थित मैं और मेरा रूप अभिमान तत्व का ही कार्य था। अर्जुन के प्रति आसक्ति के उदय की विवेचना हम अगले बिन्दु (क्र. ५) के अन्तर्गत करने जा रहे हैं।

५. अर्जुन के प्रति द्रोणाचार्य की आसक्ति धीरे धीरे इस कारण बढ़ने लगी कि उन्हें विश्वास होता गया कि अर्जुन संसार में सर्वश्रेष्ठ धनुधर के रूप में विख्यात होकर उनकी (गुरु द्रोण की) महिमा को भी फैलायेगा। इस आसक्ति का विकृत रूप हमें एकलव्य की कहानी में दिखाया गया है। सीधे-साथे किन्तु प्रतिभा के धनी एकलव्य को अर्जुन की प्रसिद्धि में संभावित रोड़ा मानकर उससे दान में अंगूठा लेने में उन्हें मन में जरा भी ग्लानी नहीं हुई !

६. जब राजकुमारों का शिक्षण समाप्त होता है तो द्रुपद से प्रतिशोध लेने और अर्जुन की प्रसिद्धि फैलाने, इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति हेतु द्रोण एक सोची समझी रणनीति तैयार करते हैं। उन्होंने गुरु दक्षिणा के रूप में राजा द्रुपद को बंदी बनाकर लाने की चुनौती रखी। इस चुनौती को अर्जुन ने सहर्ष स्वीकारा और द्रुपद को बंदी बनाकर गुरु द्रोण के समक्ष प्रस्तु किया। तब द्रोण ने द्रुपद को उनके राज्य का आधा भाग लौटाकर (भागीरथ के दक्षिण प्रदेश का राज्य द्रुपद को देकर द्रोण ने उत्तर का सम्पन्न इलाका अपने अधिकार में रख (आदि पर्व, १३७) उन्हें मुक्त करते हुए कटाक्ष किया कि अब तो हम दोनों ही बराबर के राजा हैं अतः मित्रता रह सकेगी न ? द्रुपद निरुत्तर रहे किन्तु उन्होंने भी इस अपमान का बदला लेने के लिये मन में दृढ़ संकल्प कर लिया और जिस प्रकार कि द्रोण ने शिष्य (अर्जुन) के माध्यम से बदला लिया था, राजा द्रुपद ने पुत्र के माध्यम से द्रोण से बदला लेने का संकल्प किया। इस हेतु उन्होंने यज्ञ करके धृष्टद्युम्न (धृष्ट=साहसी/दुःसाहसी; द्युम्न=सामर्थ्यवान) नामक पुत्र तथा द्रौपदी नामक एक पुत्री भी प्राप्त की। महाभारत युद्ध के सोलहवें दिन द्रोणाचार्य अंततः धृष्टद्युम्न के हाथों ही मारे गये। अजयी द्रोण के मारे जाने की घटना भी प्रतिशोध में आदमी के अंधे हो

जाने की कहानी बयां करती है। इसकी चर्चा हम आगे चरण-८ में करेंगे।

७. एक समय था जब वंशाभिमानवश द्रोण नौकरी करना नीच कर्म मानते थे किंतु जब राजधाने में शिक्षक बन गये तो राजा का कृपापात्र बने रहने के लिये उन्होंने धर्म को भी बिसार दिया। जब जुए के खेल के पश्चात् महारानी द्रौपदी को हारी हुई 'वस्तु' बतलाकर उसके साथ असभ्य और नीच व्यवहार किया जा रहा था, द्रौपदी ने भीष्म सहित द्रोणाचार्य से भी न्याय की गुहार लगाई किंतु भीष्म ने गोलमाल उत्तर दिया और द्रोण ने तो चुप्पी ही साथ ली। इन महानुभावों के इस अयोग्य व्यवहार को उभार देने वाली एक सह-घटना का वर्णन भी कथाकार ने किया है। धृतराष्ट्र के गान्धारी से उत्पन्न सौ दुष्ट पुत्रों के अतिरिक्त एक अन्य पत्नी से विकर्ण नामक पुत्र भी था। उस सत्यनिष्ठ निर्दर युवक ने सभा में खड़े होकर न्याययुक्त बात कही। उसने कहा कि जुए में युधिष्ठिर ने पहले अपने को दाव पर लगाया था और हार कर वे गुलाम बन चुके थे। गुलाम अपने सभी निजी अधिकार खो देता है तो फिर गुलाम द्वारा लगाये गये दावों की वैधता ही कहाँ रही। पूरी सभा निरुत्तर हो गई किंतु दुष्ट कर्ण ने, उत्तर न देते हुए, विकर्ण को डांट लगाई और हाथ पकड़ कर बाहर ले गया और जाते समय दुश्शासन को पांडवों के तथा द्रौपदी के भी वस्त्र उतारने का निर्देश दिया। यहाँ विकर्ण की बात हमने इसलिये उद्धृत की है जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शुद्ध मन वाला व्यक्ति न्याय की कैसी सुन्दर विवेचना कर पाता है जबकि अपने 'छोटे-स्व' में बैठे महान समझे जाने वाले व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते।

८. द्रोणाचार्य शिष्यों में पांडवों को उनके सदगुणों के कारण अधिक और अर्जुन को सर्वाधिक प्रेम करते थे किंतु जब कौरव-पांडव युद्ध का निर्णय हुआ तो यह कहते हुए कि मनुष्य को अर्थ का दास बनना पड़ता है, उन्होंने कौरव पक्ष का नेतृत्व स्वीकार किया।

९. एक बार अर्धम पथ पर पैर बढ़ा देने पर व्यक्ति अर्धमारण के दलदल में कैसा ढूबता जाता है इसका उदाहरण है अभिमन्यु वध की घटना। अर्जुन-पुत्र वीर बालक अभिमन्यु को सात महारथियों द्वारा मिलकर मारने में द्रोणाचार्य भी शामिल थे। निःशस्त्र हुए अभिमन्यु की हत्या की जाते समय

उनका धर्माचरण कैसा लुप्त हो गया था?

१०. स्वार्थ में डूबे व्यक्ति की वफादारी भी कितनी छिछली होती है यह द्रोणाचार्य के युद्ध में मारे जाने वाली घटना के ब्योरे से प्रकट होती है। युद्ध के सोलहवें दिन सेनापति द्रोणाचार्य पांडव सेना का भयंकर विनाश कर रहे थे और अर्जुन सहित कोई भी उन्हें परास्त नहीं कर पा रहा था। तब श्रीकृष्ण ने एक उपाय बताया। उन्हें द्रोणाचार्य की पुत्र के प्रति असीम आसक्ति का पता था। उन्हें विश्वास था कि अश्वत्थामा की मृत्यु के समाचार से वे विचलित हो जायेंगे और तब उन्हें युद्ध में जीत पाना संभव होगा। अतः अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी खबर फैलायी गई किंतु द्रोणाचार्य को इस खबर पर विश्वास नहीं हुआ, तब सदा सत्य बोलने वाले युधिष्ठिर से पुष्टि कराने हेतु उन पर दवाब बनाया गया तथा भीम ने अपनी सेना के ही अश्वत्थामा नामक हाथी को मार डाला और युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के पास जाकर ऊँची आवाज में तो कहा 'अश्वत्थामा हतो' और धीरे से कहा 'न नरो व कुञ्जरो'। धीमे कहे गये और कोलाहल में डूब गये शब्दों को सुन न पाने के कारण द्रोणाचार्य सुध-बुध खो बैठे। कर्तव्य भूलकर वे शस्त्र फैक कर रथ में बैठ गये। उसी समय पांडव सेनापति धृष्टद्युम्न ने, जो द्रोण द्वारा थोड़ी देर पहले ही पिता द्रुपद के वध कर दिये जाने से क्रोध से भरा था, द्रोण के रथ पर कूद कर तलवार से उनकी गर्दन काट दी।

यहाँ वर्णित घटनाक्रम में एकाधिक संदेश निहित हैं। प्रथम हम विचार करें कि महाभारतकार ने यहाँ द्रोण के चरित्र को किस रूप से चित्रित किया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि आसक्ति आदमी की कर्तव्य निष्ठा को भी कैसे नष्ट कर देती है। उस समय द्रोणाचार्य कौरव सेना के सेनापति थे किंतु पुत्र की मृत्यु के समाचार से ऐसे विचलित हुए मानो पुत्र नहीं वरन् सेना का अधिपति (राजा) ही मार डाला गया हो, बल्कि उस दशा में भी सेनापति का कर्तव्य तो यह बनता है कि अपने सैनिकों के हित में वह उचित कदम उठाये। किंतु द्रोण तो इस प्रकार के सभी कर्तव्यों से उदासीन होकर केवल पुत्र अश्वत्थामा के प्रति आसक्ति में डूबे थे।

वस्तुतः तो वे अर्जुन सहित पांडवों के विरुद्ध दुष्ट कौरवों की ओर से

युद्ध करने को तैयार ही अश्वत्थामा के कारण ही हुए थे। पांडवों को उनके सदगुणों के कारण वे चाहते थे किंतु लड़े कौरवों की ओर से। इस निर्णय में उनकी अपने भविष्य की चिन्ता की भी क्या कोई भूमिका थी, यह तो स्पष्ट नहीं है किंतु अश्वत्थामा के कारण ही वे कौरवों की ओर से लड़े, यह बात दुर्योधन के एक कथन से सिद्ध हो जाती है। अश्वत्थामा दुर्योधन आदि का गहन मित्र था और युद्ध से पूर्व दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को जब अपनी विजय के प्रति उन्हें आश्वस्त किया था तो द्रोणाचार्य कौरवों की ओर से ही लड़े गे इस का विश्वास इसी आधार पर दिलाया था कि द्रोण अपने पुत्र की इच्छा का ही पालन करेंगे।

उपरोक्त घटना के वर्णन में दूसरा संदेश यह निहित है कि प्रतिशोध, जो कि अहंकार से ही उत्पन्न होता है, उसकी आग पीढ़ी दर पीढ़ी भी धधकती रहकर सर्वनाश का कारण बन सकती है यदि कोई उसे समझदारी से बुझाने वाला न आये।

सारांश और दिशाबोध

द्रोणाचार्य, द्रुपद आदि पात्रों के माध्यम से महाभारतकार ने हमें निर्देशित किया है कि हम अपने अन्दर झांक कर देखें कि कहीं हम भी तो इन पात्रों के समान अहंकार जनित आसक्ति और प्रतिशोध जैसे दुर्गुणों के दलदल में तो नहीं फंसे पड़े हैं? इन पात्रों के चरित्रों का चिंतन करते हुए यदि हम अपने व्यक्तित्व में इन पात्रों की पहचान कर लेते हैं तो फिर इन से निरुपित अवगुणों से छुटकारे का उपाय जानने की भी हम में वास्तविक जिज्ञासा जाग्रत होगी। महाभारतकार ने गीता में श्रीकृष्ण की वाणी में निष्कामकर्म के साथ परमात्म सत्ता का सतत अनुचिन्तन वाला जो सरल मार्ग बताया है उस पर चलने का संकल्प भी यदि हम में पैदा हो जाता है तो वह हमारे आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग के बन्द दरवाजे खुलने जैसा कार्य होगा।

मद्राज शल्य

पूर्व लेख में हमने रजोगुणी पात्रों के रूप में द्वोणाचार्य का विस्तारपूर्वक और राजा द्रुपद तथा उनके पुत्र धृष्टद्युम्न के चरित्रों का संक्षिप्त अध्ययन किया। अब हम इसी कोटि के एक और प्रमुख पात्र मद्र देश के राजा शल्य का अध्ययन करेंगे। महाभारत का यह रजोगुणी पात्र भी हमारे अन्दर बहुथा मूर्त रूप धारण कर लेता है जिसे पहचान लेना हमारे लिये बहुत आवश्यक है।

शल्य एक प्रतापी राजा के रूप में वर्णित हुए हैं। ये नकुल और सहदेव की माता माद्री के भ्राता थे अतः पांडवों के मामा थे। स्वाभाविक ही पांडवों ने इन्हें महाभारत युद्ध में अपनी सहायता हेतु निर्मिति किया था। वे बड़ी भारी सेना लेकर आये भी किन्तु मार्ग में दुर्योधन ने इनका और इनकी सेना का ऐसा भव्य स्वागत सत्कार और सुख सुविधा की व्यवस्था की कि इन्होंने दुर्योधन की ओर से युद्ध में शामिल होने का निश्चय कर लिया। दुर्योधन की उस अतुलनीय व्यवस्था से राजा शल्य को यह निश्चय हो गया कि कहाँ तो कौरवों की वह साधन सम्पन्नता तथा भीष्म, द्वोण, कर्ण जैसे अतुलनीय योद्धाओं सहित अनेक सम्राटों का साथ और कहाँ गिनेचुने राजाओं का सहयोग प्राप्त कर सकने वाले पांडव। पांडव भानेज अवश्य थे किन्तु कौरव पक्ष की विजय निश्चित जानकर उन्होंने अपना हित इसी में देखा कि उन्हें कौरवों की ओर से लड़ना चाहिये। दुर्योधन को अपने सहयोग का आश्वासन देकर वे युधिष्ठिर से मिले और खेद व्यक्त करते हुए कहा कि एक बड़ी अनपेक्षित घटना घटने से वे धर्मसंकट में पड़ गये हैं। मार्ग में उनकी सेना की ओर उनकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था हुई थी जिसे मैंने तुम्हारी व्यवस्था समझकर अधिकारियों को पुरस्कृत करना चाहा तो दुर्योधन ने स्वयं उपस्थित होकर और यह कहकर कि क्या मैं उसे भानेज नहीं मानता, मुझसे पुरस्कार के रूप में अपनी (कौरव पक्ष की) सहायता का वचन ले लिया। युधिष्ठिर मामा शल्य के निर्णय के पीछे उनकी सोच को भांप गये और

उनके निर्णय को उचित ठहराते हुए अपने इन परम स्वार्थी मामा से अपने (पांडव) पक्ष के लिये भी यह वचन प्राप्त कर लिया कि यदि युद्ध में कर्ण और अर्जुन का सीधा आमना-सामना हो, जिसकी प्रबल सम्भावना थी, तो उस समय शल्य कर्ण को उत्साहीन और निराश करने का प्रयत्न करके पांडव पक्ष की मदद भी कर सकते हैं। वस्तुतः इस वचन से स्वार्थी शल्य के मन में यह विचार आकार लेने लगा कि कर्ण तो सेनापति भीष्म और द्रोणाचार्य के बाद ही बनेगा और तभी कर्ण और अर्जुन का आमना-सामना होगा और यदि कर्ण भी अर्जुन के हाथों मार डाला गया तो फिर दुर्योधन उन्हें (शल्य को) ही सेनापतित्व का भार सौंपेंगे और तब यदि वे भीम/अर्जुन को मारने में सफल हो सके, जैसा कि उन्हें स्वयं पर विश्वास था, तो इस महायुद्ध के विजेता के रूप में उनकी स्थिति सर्वोच्च हो जायेगी, क्योंकि तब शक्तिशून्य दुर्योधन तो नाममात्र का राजा होगा, वे स्वयं (शल्य) ही इस सम्पूर्ण भू-भाग के सप्राट माने जायेंगे।

स्पष्ट ही शल्य के रूप में यहाँ हम एक अति स्वार्थनिष्ठ और सिद्धान्तहीन व्यक्तित्व का चित्र देखते हैं। वस्तुतः महाभारतकार ने इस पात्र को स्वार्थ में आकण्ठ द्वारी बुद्धि के प्रतीक के रूप में बड़े विस्तार से रोचक बनाकर कर्ण पर्व (87.92 से 110) में चित्रित किया है। कर्ण के सारथी शल्य हैं और अर्जुन के श्रीकृष्ण। रोचक वर्णन इस रूप में प्रारम्भ होता है कि कर्ण के रथ की ध्वजा पर हाथी की सांकल का चिन्ह है और ध्वजा का आकार विषधर सर्प जैसा था, तथा अर्जुन के रथ की ध्वजा पर कपिश्रेष्ठ (हनुमान) अंकित थे। सर्वप्रथम, अर्जुन के रथ की ध्वजा पर अंकित हनुमान ने कर्ण की ध्वजा पर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दिया। फिर सारथियों में दृष्टि युद्ध हुआ जिसमें कृष्ण के नेत्ररूपी बाणों से शल्य पराजित हो जाता है। उसी समय कर्ण अपने सारथि शल्य से पूछता है कि यदि आज रण में अर्जुन से मैं मारा जाऊँ तो तुम संग्राम में क्या करोगे? इस पर शल्य ने उत्तर दिया कि उस स्थिति में मैं अकेला ही इस रथ के द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों का ही वध कर डालूँगा। वर्णन है कि अर्जुन ने भी उसी समय श्रीकृष्ण से यही

प्रश्न पूछा तो श्रीकृष्ण का उत्तर था कि 'भले ही सूर्य अपने पथ से विचलित हो जाये, समुद्र सूख जाये, अग्नि शीतल हो जाये किन्तु कर्ण तुम्हें (अर्जुन को) मार नहीं सकता।' यहाँ शल्य और श्रीकृष्ण रूप दो सारथियों के भिन्न सोच का दिग्दर्शन कराया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन के सच्चे हितैषी सखा हैं जो उसे उत्साह से भरकर विजयी बनाने के लिये कृतसंकल्प हैं, दूसरी ओर शल्य अपने अहंकार (और स्वार्थ) में डूबा हुआ सारथि है जो चाहता है कि कर्ण शीघ्र मारा जाय तो सेनापतित्व का पद उसे ही मिल जाये।

रथि-सारथि वाले इन चित्रों की आध्यात्मिक व्याख्या हमें कठोपनिषद (1.3.3) और गीता (1.14) से प्राप्त होती है। दोनों वर्णनों में रथ प्रतीक है शरीर का, घोड़े हैं इन्द्रियाँ, मन लगाम है, रथि जीवात्मा है, किन्तु सारथि का प्रतीकार्थ दोनों ग्रन्थों में थोड़ा भिन्न है। कठोपनिषद में सारथि को विवेक-बुद्धि कहा गया है और गीता में जीवात्मा से उच्चतर सत्ता के रूप में श्रीकृष्ण को बैठाया गया है, और उन्होंने स्वयं अपना यह परिचय इन शब्दों में दिया है—'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' अर्थात् वे जीवात्मा को परम् लक्ष्य तक पहुंचाने वाले, उसके स्वामी, आश्रय और मित्र हैं (9.18)। वस्तुतः उपनिषदों के सुप्रसिद्ध 'द्वासुपुण्ठा...' मन्त्र में जीवात्मा और उससे उच्चतर सत्ता को वृक्ष पर बैठी दो चिंडियों के रूप में वर्णित किया गया है जिनमें एक (जीवात्मा) तो संसार के खड़े-मीठे फल खाकर सुखी-दुःखी होती है और दूसरी केवल दृष्टा, जीवात्मा की सखा और मार्गदर्शक है। किन्तु महाभारत के उपरोक्त चित्र में अर्जुन-श्रीकृष्ण वाले रथ के अतिरिक्त जिस दूसरे रथ को, जिस पर रथि-सारथि के रूप में कर्ण-शल्य आरूढ़ हैं, खड़ा किया गया है उसमें निहित संदेश को जानना भी आवश्यक है। इस दूसरे रथ पर कुसंगति में पड़कर भ्रष्ट पथगामी हुई जीवात्मा को कर्ण के रूप में और स्वार्थ में डूबी बुद्धि को शल्य के रूप में चित्रित करके सर्वनाश की ओर ले जाने वाली स्थितियों के प्रति हमें आगाह किया गया है।

राजा शल्य ने कर्ण के रथ का सारथि बनना कैसे स्वीकार किया

यह वृतान्त भी शल्य की मानसिकता पर प्रकाश डालता है। द्रोणाचार्य के बाद जब 16 वें दिन कर्ण को कौरव सेना का सेनापतित्व सौंपा गया तो उसने भयंकर युद्ध किया किन्तु वह पाण्डवों पर कोई निर्णायक विजय नहीं प्राप्त कर पाया। तब अगले दिन (युद्ध के 17 वें दिन) प्रातः कर्ण ने दुर्योधन को अपनी योजना बताते हुए कहा कि आज मैं अर्जुन को मारकर पाण्डवों पर निर्णायक जीत स्थापित करना चाहता हूँ। अर्जुन से मैं किसी भी प्रकार कमजोर नहीं हूँ। अर्जुन के पास यदि गाणडीव धनुष है तो मेरे पास भी परशुरामजी का 'विजय' नामक वह दिव्य धनुष है जिसके द्वारा उन्होंने पृथ्वी के सभी क्षत्रियों पर इक्कीस बार विजय प्राप्त की थी और उस धनुष का संचालन भी उन्होंने केवल मुझे सिखाया था। वस्तुतः अर्जुन में ऐसी शक्ति भी नहीं है कि वह युद्ध में मेरा वेग सह सके किंतु जिस बात में मैं अर्जुन से हीन (कम) रह जाता हूँ और अर्जुन मुझ से अधिक हो जाता है वह यह है कि अर्जुन को श्रीकृष्ण जैसा कुशल रथ-संचालक प्राप्त है और मुझे वैसा सारथि प्राप्त नहीं है। किन्तु उस कमी को हम श्रेष्ठता में भी बदल सकते हैं क्योंकि हमारे पक्ष में राजा शल्य हैं जो 'अश्व विज्ञान' में श्रीकृष्ण से अधिक श्रेष्ठ है और मैं धनुर्विज्ञान में अर्जुन से श्रेष्ठ हूँ (कर्ण पर्व, अध्याय-31)। अतः यदि राजा शल्य मेरे रथ के संचालन का कार्य संभाल लें तो हमारी विजय सुनिश्चित होगी।

तब दुर्योधन ने शल्य से कर्ण का सारथि बनने के लिये प्रार्थना की जिसे सुनकर शल्य भड़क उठे। शल्य ने कहा कि तुम मेरा अपमान कर रहे हो। मैं तो युद्ध में कर्ण को अपने समान भी नहीं गिनता। राजर्षियों के कुल में उत्पन्न हुआ मैं इस नीच जाति के सूत पुत्र का सारथि कैसे बन सकता हूँ? ऐसा कह कर शल्य राजाओं के बीच से उठकर जाने लगे। तब दुर्योधन ने उन्हें बड़े आदरयुक्त और मधुर वचन बोलकर जाने से रोका और कहा कि आप मेरे तात्पर्य को नहीं समझते। मैं कर्ण को तो अर्जुन से केवल शस्त्र ज्ञान में ही श्रेष्ठ मानता हूँ किन्तु आप तो कर्ण से भी श्रेष्ठ हैं और (अश्व) विद्या में तो श्रीकृष्ण से द्विगुण हैं। कर्ण अश्व

विद्या जानता होता तो वह आपका सारथि बनता और अर्जुन को मारने का दायित्व मैं निश्चय ही आपको सौंपता। इसके साथ ही दुर्योधन ने भगवान शिव द्वारा त्रिपुरासुर के वध की वह गाथा कही जिसमें लोक सृष्टि भगवान ब्रह्मा ने शिव के दिव्य रथ का सारथि बन कर आकाश में उस असुर के तीन दुर्गों पर आक्रमण करके उस अजेय असुर के वध किये जाने में योगदान किया था। दुर्योधन ने कहा कि युद्ध में आज कर्ण रुद्र की भूमिका और आप देवाधिदेव ब्रह्मा की भूमिका निभा कर मेरे उस कार्य को सम्पन्न करें जिसका आपने मुझे वचन दिया था। यह स्तुति वचन सुनकर शल्य बहुत प्रसन्न हुआ और वह कर्ण का सारथि बनने के लिये सहर्ष तैयार हो गया।

किंतु जैसे ही रथ युद्ध भूमि में आगे बढ़ा और कर्ण ने जोश में भरकर कहा कि आज मैं पांचों पांडवों का वध करके दिखाऊँगा तो शल्य से रहा नहीं गया और उसने कहा कि कर्ण, जब अर्जुन और उनके वीर भाईयों से तुम्हारा सामना होगा तब तुम्हारी इन गर्वोक्तिपूर्ण बातों का खोखलापन सामने आ जायेगा। किंतु इधर कर्ण की गर्वोक्ति बन्द नहीं हुई और दूसरी ओर शल्य द्वारा पांडवों की वीरता का बखान और कर्ण का उपहास किया जाना बढ़ते बढ़ते तू-तू मैं-मैं तक पहुँच गया। इतना ही नहीं, शल्य ने कर्ण-अर्जुन की तुलना सर्प-गरुड़, कुत्ता-बाघ, गीदड़-सिंह, चूहा-बिलाव, कौवा-हंस आदि से करते हुए कहा कि अर्जुन बल में और शस्त्र ज्ञान में तो तुमसे कहीं अधिक है ही, मानवीय गुणों की दृष्टि से तो तुम उससे तुलना योग्य भी नहीं हो क्योंकि तुम दुष्टता के और अर्जुन सदगुणों का भंडार है। तब कर्ण समझ गया कि शल्य में उसके प्रति मित्र भाव तो था ही नहीं, वह तो उसे डराने और हतोत्साहित करना ही चाह रहा था (39.11, 42.24)। ऐसी स्थिति में कर्ण का शल्य के प्रति क्षोभ इतना बढ़ा कि उसने शल्य के देश (मद्र देश) के निवासियों और वहाँ स्त्रियों के चरित्रों को निन्दनीय बताते हुए कहा कि जिनके यहाँ सभी स्त्री-पुरुष एक दुसरे से काम सम्पर्क और पाप कर्मों में लिप्स रहते हैं, उनमें धर्म कैसे रह सकता है

(कर्ण पर्व 40.25 से 30), लज्जा को तिलांजलि दे चुकी मद्र निवासिनी स्त्रियों के तुम पुत्र हो इसी कारण तुम यहाँ ऐसी (मित्र-द्रोह युक्त) बातें कर रहे हो (40.37 से 42)। मैं जानता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महान वीर हैं किन्तु मैं भी उनसे कम नहीं हूँ और तुम मुझे डरा कर अपने कर्तव्य से छ्युत नहीं कर सकते (42.3)।

कर्ण को पश्चाताप होने लगा कि उसने स्वयं ही शल्य को अपने रथ संचालन के लिए सारथि क्यों चुना? जब यह विचार उसके मन पर छाने लगा तो उसे पहले कभी संयोगवश एक ब्राह्मण से मिले शाप की स्मृति हो आई। परिणाम यह हुआ कि कर्ण बाहर तो साहस प्रदर्शित कर रहा था किन्तु अन्दर से वह अपनी विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त नहीं रह सका, और शल्य चाहता भी यही था क्योंकि उसे, जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, अपना हित कर्ण का वध होने में ही दिख रहा था।

अर्जुन द्वारा कर्ण का वध कर दिये जाने के बाद अपेक्षानुरूप शल्य ही कौरवों के सेनापति बने किन्तु वे अर्जुन तो क्या युधिष्ठिर से ही परास्त होकर केवल कुछ घन्टों में ही मार डाले गये। युधिष्ठिर द्वारा शल्य वध का वृतान्त भी हमारे लिये एक आध्यात्मिक संदेश से युक्त है।

जब कौरव पक्ष का सेनापति शल्य को बनाया गया तो, वर्णन है कि, उन्हे परास्त करने का दायित्व श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को सौंपा। यह बात विचित्र इसीलिये लगती है कि शल्य एक प्रसिद्ध योद्धा था जिसके वध का दायित्व अर्जुन को ही दिया जाना युक्तिसंगत होता। किन्तु इसके पीछे जो आध्यात्मिक संकेत किया गया है उसे महाभारतकार ने श्रीकृष्ण के शब्दों में इंगित किया है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं—

‘मैं राजा शल्य को अच्छी तरह जानता हूँ।…… मैं बहुत सोचने पर भी तुम्हारे सिवाय अन्य किसी योद्धा को शल्य-वध के लिये सक्षम नहीं देखता हूँ।…… आपको ही इन महारथी शल्य को मारना है (शल्य पर्व 7.27, 30, 33)। इसके बाद जब अगले दिन (युद्ध के अठारहवें दिन) प्रातः शल्य के सेनापतित्व में कौरव सेना और युधिष्ठिर के सेनापतित्व में पांडव सेना का युद्ध प्रारंभ हुआ तो धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, नकुल-

सहदेव, सात्यिकी, भीम और अर्जुन में से कोई भी शल्य का वध नहीं कर पा रहा था। युधिष्ठिर ने तब अपने पक्ष के इन समस्त योद्धाओं को बुलाकर श्रीकृष्ण द्वारा पूर्व संध्या को कही गई बात की व्याख्या इन शब्दों में की—‘बन्धुओं! भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि जो वीर दुर्योधन के लिये पराक्रम दिखा रहे थे उनको मारकर तुम लोगों ने अपने—अपने हिस्से का कार्यपूरा किया। अब ये एकमात्र शेष बचे महारथी शल्य मेरे हिस्से में पड़ गये हैं। अब आज मैं अपने हिस्से का कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न करूंगा।’ यह कहकर युधिष्ठिर ने अपने रथ के घोड़ों का संचालन स्वयं ही करते हुए शल्य पर बहुत तीव्र आक्रमण किया और दोनों ओर के भयंकर युद्ध के बाद शल्य को युधिष्ठिर ने मार गिराया।

यहाँ स्वार्थ वृत्ति के प्रतीक शल्य का वध सत्य आचरण पर दृढ़ता के प्रतीक युधिष्ठिर द्वारा ही संभव होने की बात को रेखांकित किया गया है। इस बिन्दु सहित भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि अन्य योद्धाओं का वध जिस जिस पांडव वीर द्वारा अकेले या अन्य किसी का सहारा लेकर किया गया और कौरव पक्ष के ये योद्धा कितने दिन के युद्ध के उपरान्त मारे जा सके इसका आध्यात्मिक अर्थ क्या हो सकता है इसका अध्ययन हम अगले लेख में करेंगे।’

कुछ निम्न कोटि के पात्रों की विवेचना

धृतराष्ट्र और उसके पुत्र

धृतराष्ट्र की उत्पत्ति की कहानी हम इस लेखमाला के द्वितीय अंक में पढ़ चुके हैं। यह पात्र मनुष्य के तामसिक मनस का निरूपण करता है इसके जीवन में ज्ञान का अभाव दिखाया गया है और इस तथ्य को रेखांकित करने के लिये उसे जन्मान्ध बताया गया है।

‘धृतराष्ट्र’ शब्द का भावार्थ है वह जिसे राज्य/राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिये (कुछ समय के लिये) अधिकृत किया गया हो किंतु जिसने उस पर अधिकार जमा लिया हो। राजा पाण्डु के वानप्रस्थ ग्रहण करके वन चले जाने पर भीष्म पितामह ने तात्कालिक रूप से धृतराष्ट्र को राज्य का मुखिया बनाया था किंतु धृतराष्ट्र ने अपने को राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी मानते हुए इस अवसर का उपयोग करके अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को, राज्य परिषद की सहमति लिये बिना, युवराज बना दिया, जबकि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर सभी राजकुमारों में ज्येष्ठतम थे। इतना ही नहीं, पाण्डु पुत्रों के बल, वीरता और योग्यता (भीम के बल, अर्जुन की शक्तियों में निपुणता, युधिष्ठिर की उनकी उच्च चारित्रिक गुणों के कारण बद्धी लोकप्रियता) को देखते हुए पांडवों के पक्ष में भविष्य में कभी सत्ता परिवर्तन अथवा उसके बंटवारे की संभावना को भांपते हुए धृतराष्ट्र ने अपने साले शकुनी, पुत्र दुर्योधन और दुःशासन तथा इनके मित्र कर्ण की चण्डाल चौकड़ी के षड्यन्त्रों द्वारा उनको मरवा डालने के प्रयत्नों में गुप्त रूप से सहमति अथवा सक्रिय सहयोग भी दिया।

वस्तुतः धृतराष्ट्र का जन्मान्ध होना, जिसके कारण उन्हें राज्य न देते हुए लघु भ्राता पांडव को राज्य दिया गया था, एक विशुद्ध प्राकृतिक संयोग की ऐसी घटना थी जिससे अनेक व्यक्ति पीड़ित होते रहे हैं किंतु इसके बाद भी वे उत्तम और सफल जीवन जी लेते हैं, तथा सूरदास और अभी हमारे समय के महात्मा शरणानन्दजी जैसे तो उस परिस्थिति का भरपूर उपयोग अपनी आध्यात्मिक साधना की सिद्धि में कर लेते हैं। किंतु

धृतराष्ट्र अपने को तमस रूपी अज्ञानान्धकार से बाहर नहीं निकाल पाता है और सम्पूर्ण परिवार, कुटुम्ब तथा राष्ट्र के विनाश का कारण बन कर बाद में पछताता है (दृष्टव्यः द्वोणपर्व-अ. २४, ८५, ८६, ११४, १३५, १८३; कर्णपर्व-अ. ४, ८, ३१; स्त्रीपर्व- अ. १ श्लोक १३ से १५)।

महाभारतकार ने राग-द्वेष में डूबी उसकी बुद्धि का चित्रण करके हमें चेताया है कि कही हम भी तो उसी प्रकार के अन्धत्व में तो नहीं पड़े हुए हैं? राजा धृतराष्ट्र को भीष्म, द्रोण, विदुर तथा अनेक ऋषि-मुनि धर्मयुक्त सलाह देते थे किन्तु उसकी मनोवृत्ति ऐसी थी कि वह धर्मयुक्त बातों के प्रति आदर व्यक्त करता था किन्तु निर्णय और कार्य का निष्पादन अपनी राग-द्वेषात्मक बुद्धि से ही करता था। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण का उल्लेख वांछनीय होगा।

राजकुमारों की शक्त्रात्र शिक्षा समाप्त होने पर आचार्य द्रोण ने गुरु दक्षिणा के रूप में पाश्चाल नरेश द्रुपद को बंदी बनाकर उनके समक्ष प्रस्तुत करने की बात कही थी। हस्तिनापुर से सेना लेकर सभी राजकुमार गुरु द्रोण को साथ लेकर पाश्चाल पर आक्रमण करने निकले। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दुर्योधन ने कहा कि वह पांडवों को साथ नहीं लेगा और कर्ण तथा भाईयों की सहायता से द्रुपद को बंदी बनाकर ले आयेगा। द्रोणाचार्य ने उसे अनुमति दे दी किंतु वह पराक्रमी द्रुपद के आगे नहीं ठहर सका। तब द्रोण ने पांडवों को वह कार्य सौंपा। पांडवों ने पाश्चाल सेना को तहस-नहस कर दिया और द्रुपद के रथ तक पहुंच गये। अदम्य साहस और फुर्ती का परिचय देते हुए अर्जुन तलवार लेकर द्रुपद के रथ पर कूद पड़े और उन्हें बंदी बनाकर गुरुद्रोण के सम्मुख ला खड़ा किया। इस कार्य से उत्साहित होकर धृतराष्ट्र ने साम्राज्य विस्तार का कार्य पांडवों को सौंपा। सौवीर (वर्तमान सौराष्ट्र) से लेकर यवन देश (यूनान) तक, तथा पूर्व एवं दक्षिण के अनेक राज्यों को जीतकर पांडवों ने कुरु साम्राज्य का विस्तार किया और अपार धन से राज्य को ऐसा समृद्ध किया कि अर्जुन को लोग 'धनजय' नाम से पुकारने लगे।

किंतु पांडवों की इस अपूर्व सफलता और प्रसिद्धि से धृतराष्ट्र में

सहसा दूषित भावों का उदय हुआ (आदि पर्व-अ. १३८)। वे चिन्ता में पड़ गये कि उक्त परिस्थितियों में दुर्योधन राज्य पर आसीन नहीं हो सकेगा। तब उन्होंने सदविचारवान सभासदों / महात्माओं को छोड़कर कणिक नामक एक कुटिल सभासद से एकान्त में परामर्श किया (आदि पर्व-अ. १३९)। जैसी की अपेक्षा थी, उस कुटिल हृदय ने दुष्टापूर्ण सलाह दी जो धृतराष्ट्र को भली लगी। कणिक ने कहा कि राजा को चाहिये कि पराक्रमी शत्रु को अपने शत्रुभाव का पता भी न चलने दे और मौका लगते ही उन्हें अवश्य मार डाले। धोखे से मारना पड़े तो भी संकोच न करे, इस नीति की उपेक्षा न करे (श्लोक ५२, ५३)। **राजन!** आपके भूतीजे पांडव बहुत बलवान हैं, अतः उनसे अपनी रक्षा हेतु ऐसी नीति ही काम में लायें जिससे आपको आगे पछताना न पड़े (श्लोक ९२, ९३)। कूर कणिक के उपदेश से प्रेरणा पाकर ही धृतराष्ट्रने कुंती और पांचों पांडवों को वारणावत नगरी के मेले में भेजकर वहाँ लाक्षागृह में जला कर मार डालने की शकुनि आदि की कुत्सित योजना को क्रियान्वित करवाया था।

उक्त घटना प्राकृतिक हादसा न होकर एक कुत्सित योजना थी और इसमें धृतराष्ट्र की भूमिका के बारे में लोगों के मन में सन्देह हो गया था। इसी कारण जब द्वौपदी स्वयंवर से यह जग जाहिर हो गया कि पांडव अग्निकांड से जीवित बच गये थे तो भीष्म आदि की सलाह मान कर धृतराष्ट्र ने न चाहते हुए भी पांडवों को हस्तिनापुर बुलाया और फिर राज्य का बांटवारा करना स्वीकार करके उस सन्देह के निराकरण करने का प्रयास किया। किन्तु यह बटवारा भी उसने न्यायसंगत नहीं किया। पांडवों का खांडवप्रस्थ का उजाड़ और दस्युग्रस्त क्षेत्र का राज्य दिया किन्तु जब श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में पांडवों ने उक्त राज्य को भी उन्नति के शिखर पर पहुंचा कर और सफल राजसूय यज्ञ के द्वारा उसे एक शक्तिशाली और समृद्ध साम्राज्य में बदल दिया तो इसे भी हड्डपलेने की दुराशयता से दुर्योधन आक्रान्त हो गया। **शकुनि** ने मायावी जुओं से इस लक्ष्य को सिद्ध

करने की योजना बनाई और धृतराष्ट्र ने, महामना विदुर की चेतावनी के विपरीत भी, इस कपट में सक्रिय भूमिका निभाई उसका ही परिणाम वह घटना-क्रम था जिसमें पारिवारिक रिश्ते, सभ्यता और संस्कृति, धर्म और मानवता—सब कुछ घृणा, क्रोध और प्रतिशोध के फैलते दावानल में भस्म होते चले गये।

इस पात्र के माध्यम से महाभारतकार ने हमें चेताया है कि हमें जीवन में घटने वाली घटनाओं के प्रति, चाहे वे प्राकृतिक हों अथवा मानव सम्बन्धों से उत्पन्न हों, पूरी तरह सावधान होकर विवेकपूर्ण निर्णय करना चाहिये, अन्यथा हमारा अज्ञानमय निर्णय स्वयं हमारी और उन सबकी भी जिनसे हमारा सम्बन्ध होता है, बड़ी भारी हानि कर सकते हैं।

धृतराष्ट्र के सौ और एक पुत्र

समस्त पौराणिक साहित्य में किसी पात्र के पुत्र का प्रतीकार्थ होता है उसके गुण या वृत्तियाँ। धृतराष्ट्र के गान्धारी से १०० पुत्र और १ पुत्र दूसरी पत्नी से होना वर्णित है। दुर्योधन आदि सभी १०० पुत्र दृष्ट वृत्तियों से युक्त थे किन्तु दूसरी पत्नी से होने वाला पुत्र युयुत्सु-की वृत्ति धर्मचरण वाली थी। गीतोपदेश के बाद जब अर्जुन युद्ध के लिये पुनः कटिबद्ध हो गया तब युधिष्ठिर ने पहले तो भीष्म, द्रोण, शत्र्यु और कृपाचार्य के चरण छूकर युद्ध करने की अनुमति और आशीर्वाद प्राप्त किया और तब कौरव सेना के बीच में खड़े होकर पुकारा कि ‘जो कोई वीर हमारे पक्ष में आना चाहे हम उसका स्वागत करेंगे’, तो युयुत्सु प्रसन्नता से सत्य का डंका पीटता हुआ पांडव पक्ष में चला आया (भीष्म पर्व-४३.१४ से १००)। यह चित्रांकन वस्तुतः उपनिषदों के उस प्रसिद्ध मन्त्र-‘शतं च एका हृदयस्थ नाड़्या...’-का प्रतीकात्मक वर्णन है जिसमें इंगित किया गया है कि मनुष्य के मन में जो अनेकवृत्तियें संग्रहित रहती हैं उनमें से एक को छोड़कर अन्य सभी अज्ञान-परक होने से सांसारिक सुख-दुःखों में भटकाने वाली हैं और वह एक वृत्ति परम सत्य/परमात्मा की ओर ले जाने वाली है। इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित कर हमें आत्म अवलोकन करते रहने हेतु चेताया गया है कि देखें

कि जीवन में हम उस एक ऊर्ध्वगामी वृत्ति को जीने का प्रयास करते हैं अथवा धृतराष्ट्र की तरह अंधे होकर अधोगामी वृत्तियों को ही जीते रहते हैं।

उपरोक्त दो विपरीत दिशाओं वाली वृत्तियों के सम्बन्ध में १०० और १ की संख्या को हम इनकी क्रिया शक्ति का अर्थात् प्रबलता का माप भी मान सकते हैं। इन दो दिशाओं को उपनिषदों में असत और सत, तम और ज्योति, मृत्यु और अमृत, तथा गीता में अज्ञान रूपा प्रकृति और ज्ञान रूपा पुरुष तत्त्व कहा गया है। इन्हें ही आजकल ऋणात्मकता और धनात्मकता कहा जाता है। धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व में ऋणात्मक तत्त्व प्रबल है और धनात्मक तत्त्व बहुत क्षीण है। यह तथ्य इस बात से प्रकट होता है कि जब कभी भीष्म, द्रोण, श्रीकृष्ण अथवा कोई अन्य महात्मा उसे कुवृत्ति रूप दुर्योधन के क्रिया कलाओं के प्रति सावधान करते हैं तो उसकी मति में भी सदबुद्धि अल्पकाल के लिये जाग्रत होती है और वह कुपरिणामों से डर कर दुर्योधन को पांडवों से सन्धि कर लेने की बात करने लगता है किन्तु जैसे ही दुर्योधन अपने विजयी होने के तर्क प्रस्तुत करता है, उसका निर्णय दुर्योधन के अनुरूप होकर वह उसकी योजना को ही क्रियान्वित करवाता है।

धृतराष्ट्र द्वारा सदबुद्धि को तिलांजलि दिये जाने और दुर्योधन की कुबुद्धि का अनुसरण किये जाने की बात को मन्त्री संजय ने स्वयं राजा धृतराष्ट्र को उन अनेक अवसरों पर कही है जब-जब भी कौरव पक्ष के किसी महान योद्धा-भीष्म, द्रोण, कर्ण, शत्र्यु और अन्त में दुर्योधन के ही हताहत होने की सूचना संजय कुरुक्षेत्र से हस्तिनापुर आकर उन्हें सुनाता है तो धृतराष्ट्र पश्चाताप करते हुए कहने लगते हैं कि मूर्ख दुर्योधन ने मेरी (धृतराष्ट्र की) बात नहीं मानी, तब तब संजय स्पष्ट कहता है कि 'महाराज! इन परिस्थितियों के लिये तो आप स्वयं ही जिम्मेदार हैं, यह सब आपके अधर्मी कर्मों के फल हैं।... यदि आप जुओ का आयोजन नहीं करते, फिर पांडवों को उनके १३ वर्ष के वनवास के उपरान्त उनको इन्द्रप्रस्थ का उनका राज्य दुर्योधन की बात न मानते हुए लौटा देते और यदि दुर्बुद्धि दुर्योधन नहीं मानता था तो उसे भी कैद करने का आदेश दे देते, जैसा कि राज्यसभा में अनेक महात्माओं और श्रीकृष्ण ने आपसे कहा था, तो आज

यह दिन न देखना पड़ता। यदि आपने अपने पुत्र को सन्मार्ग पर स्थापित करके पिता के धर्मनुकूल कर्तव्य का पालन किया होता तो यह संकट नहीं आता।' (द्वोण पर्व अ. ८५, ८६; इसी प्रकार की धृतराष्ट्र-संजय वार्ताएं कर्णपर्व-अ. ४, ३९; शल्य पर्व-अ. २ ; स्त्री पर्व-अ. १ श्लोक १३ से १५ में दृष्टव्य हैं)

शकुनि

शकुनि को एक धूर्त और घोर तामसिक मनस वाले पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पांडवों के विरुद्ध प्रत्येक षड्यन्त्र मूलतः उसके ही मस्तिष्क की उपज होती थी, यह बात संजय ने भी धृतराष्ट्र को सहदेव द्वारा शकुनि के मारे जाने का युद्ध वृतान्त सुनाते हुए कही थी (शल्य पर्व - अ. २८ श्लोक - ६३)। शकुनि ने तामसिक सिद्धियें भी प्राप्त की थीं। जुओं का षड्यन्त्र इसी प्रकार की सिद्धि के बल पर रचा गया था, यह बात द्रोणाचार्य के उन शब्दों से प्रकट होती है जो उन्होंने दुर्योधन को उसके आरोप के प्रतिउत्तर में कहे थे। महारथी जयद्रथ की रक्षा हेतु कौरव पक्ष द्वारा की गई सारी सैन्य व्यवस्थाओं को भेद करके भी जब अर्जुन ने जयद्रथ का वध कर दिया तो दुर्योधन घोर निराशा में डूब गया और उसने सेनापति आचार्य द्रोण पर यह आरोप मढ़ दिया कि जिस प्रकार पहले भीष्म पितामह ने पांडवों को विजय दिलाने हेतु स्वयं अपनी मृत्यु स्वीकार की थी, उसी प्रकार आप भी अन्तर्मन से हमारी विजय नहीं चाहते हैं अन्यथा महारथी जयद्रथ, भूरिश्रवा, शूरसेन जैसे हमारी सेना के प्रमुख स्तम्भ और अन्य सैकड़ों मित्र राजाओं सहित हमारी आज तक सात अक्षौहिणी सेना काल कवलित नहीं हो सकती थी। दुर्योधन से इस प्रकार के अनर्गल आक्षेप सुन कर द्रोणाचार्य अत्यन्त दुःखी हुए किन्तु शान्त भाव से उन्होंने कहा कि उक्त पराजयों का कारण तो जुओं में की गई वह बेर्इमानी थी जो शकुनि ने तुम्हारे लिये रची थी और जिसके क्रियान्वयन में राजा धृतराष्ट्र ने भी महती भूमिका निभाई थी (द्रोण पर्व-अ. १५१, श्लोक - ११)। उस बेर्इमानी के फल स्वरूप ही हमारे पक्ष की यह दुर्दशा हमारे अथक प्रयासों के विपरीत होती जा रही है। वस्तुतः महात्मा विद्वर ने उस समय इस भविष्य को देखकर ही कह दिया था कि शकुनि जिन पापपूर्ण पासों को फेंक रहा है वे किसी दिन

हमारे विनाश का कारण बनेंगे (श्लोक १० से १३)। यद्यापि मैं अपनी पूरी शक्ति लगा कर युद्ध कर रहा हूँ और करता रहूँगा किन्तु अब मैं न तो अपने जीवित रहने की और न तुम्हारे जीतने की ही सम्भावना देख रहा हूँ (श्लोक-२५ से ३२)।

शकुनि ने उक्त तामसिक सिद्धियों का प्रयोग युद्ध में भी अर्जुन के विरुद्ध किया था किन्तु अर्जुन के दिव्यास्रों के आगे सफल न हो पाने पर वह उस समय भाग कर जान बचा पाया था। द्वोण पर्व, अ. ३० में वर्णन है कि जब अर्जुन से युद्ध करते हुए शकुनि के भाई वृषक और अचल मार गिराये गये तो शकुनि ने मायावी युद्ध किया। अर्जुन पर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चारों ओर से आकर गिरने लगे और अनेक प्रकार के हिंसक जंगली भूखे जानवर आक्रमण करने लगे किन्तु अर्जुन की बाण वर्षा से वे सभी नष्ट होते गये। तब अर्जुन के चारों ओर घोर अन्धकार छा गया और उसमें से भयंकर कूर आवाजें आने लगीं जिसे अर्जुन ने 'ज्योतिषेण' दिव्यास्र द्वारा नष्ट कर दिया। तदनन्तर बड़े भयंकर जल प्रवाह प्रकट होने लगे जिनका निवारण अर्जुन ने 'आदित्यास्र' द्वारा किया। इस प्रकार के अनेक मायावी युद्धों से भी जब शकुनि को सफलता नहीं मिली तो वह जान बचाकर मैदान छोड़ कर भाग गया (श्लोक १६ से २८)। इस समय तो शकुनि भाग कर बच गया किन्तु युद्ध के अन्तिम दौर में जब कौरव पक्ष के गिने-चुने महारथी और थोड़ी-सी सेना ही बची थी, शकुनि अपने पुत्र उलूक को साथ लेकर दुर्योधन के साथ रणक्षेत्र से भागने की तैयारी कर रहा था तो भीम और सहदेव ने उसे घेर लिया। दुर्योधन तो वहाँ से खिसक लिया और शकुनि तथा उलूक के साथ भीम और सहदेव का युद्ध होने लगा जिसमें सहदेव ने उलूक को मार गिराया। तब शकुनि पुनः रणभूमि से भागने लगा किन्तु सहदेव ने उसे ललकारा और युद्ध करने के लिये मजबूर करके अन्त में भलू से उसका हाथ और फिर मस्तक काट डाला (शत्य पर्व-२८, श्लोक ५० से ६२)।

इस पात्र के चित्रण द्वारा महाभारतकार ने इस सत्य को प्रकाशित किया है कि तमस में डूबा व्यक्ति तामसिक शक्तियों को सिद्ध भी कर ले तो

भी वह अन्दर से कमजोर और भीरु होकर जहाँ अपनी आत्मा को गिराता है, वहीं वह संसार में अपने जैसे अन्य तामसिक लोगों को जोड़कर ऐसी नकारात्मक परिस्थितियों का निर्माण कर देता है जो अन्त में ऐसे संघर्ष को जन्म देती हैं जिनमें तमस शक्तियों का तो सम्पूर्ण नाश होता ही है, कुछ समय के लिये तो सकारात्मक शक्तियों का विकास भी मन्द हो जाता है।

अश्वत्थामा

महाभारत के पात्रों में से निकृष्टतम् चरित्र अश्वत्थामा का व उसके दो सहयोगियो—कृपाचार्य और कृतवर्मा—सहित, अध्ययन हमारे इस लेख का विषय होगा। अश्वत्थामा पात्र के आध्यात्मिक स्वरूप अर्थात् उस जैसी वृत्तियों की खोज अपने अन्दर करने का महत्व हमारे लिये व्यक्तिगत स्तर पर तो है ही, इस पात्र जैसी भूमिका में तत्पर खड़े कुछ देशों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसके दुष्परिणामों से मानव जाति को बचाने की दृष्टि से भी समस्या के सभी पक्षों का अध्ययन महत्वपूर्ण हो गया है।

द्रोण चरित्र के अध्ययन के अन्तर्गत हम पढ़ चुके हैं कि अश्वत्थामा को पिता द्रोणाचार्य ने कई ऐसे शस्त्राञ्जों की शिक्षा गुपचुप प्रदान की थी जो उन्होंने अपने योग्यतम् और प्रिय शिष्य अर्जुन को भी नहीं दी थी (आदि पर्व १३९.१६ से २०)। गुरु द्वारा मोह वश पुत्र को दी गई इस विद्या में उस नियम का स्पष्टतः उल्लंघन हुआ था कि उन दिव्यास्त्रों की शिक्षा केवल आध्यात्मिक रूप से योग्य पात्र को ही दी जाना चाहिये, और इसके दुष्परिणामों को महाभारतकार ने युद्ध की घटनाओं में बहुत प्रभावी रूप से उभारा है।

अश्वत्थामा का मनस पूर्णतः तमस में ही स्थित था। वह दुर्योधन, कर्ण और शकुनि की चंडाल-चौकड़ी का चौथा पाया तो बना ही, उसने इन शक्तियों को बड़ा बल प्रदान किया और वह सर्व विनाश का ऐसा कारण बना जो यदि अनुपस्थित होता तो संभवतः यह महायुद्ध होता ही नहीं। वस्तुतः अश्वत्थामा से पुत्र मोह से बंधे होने के कारण द्रोणाचार्य कौरवों की ओर से युद्ध लड़ेंगे, इस बात का दुर्योधन को पूरा भरोसा था और पिता धृतराष्ट्र को जब उसने अपनी विजय के प्रति आश्वस्त किया था तो इस विश्वास को आधार बनाया था।

अश्वत्थामा वीर तो था परन्तु उसकी तामसिक वृत्तियों ने उसकी वीरता और दिव्यास्त्रों के ज्ञान को ऐसी भयंकर त्रासदी में बदल दिया कि वह तीन हजार वर्षों तक उसके परिणाम भोगने के लिये अभिशप्त हुआ। इस घटना की चर्चा हम बाद में करेंगे, पहले उन कुछ प्रकरणों पर दृष्टि डाल लें

जिनमें वह अपने अलौकिक दिव्यास्त्रों का मूर्खतापूर्ण दुरुपयोग करके उनके पुनः प्रयोग कर सकने की क्षमता को भी खो देता है।

नारायणस्त्र का असफल प्रयोग : द्रोणाचार्य के वध के उपरान्त अश्वत्थामा ने रोष में भरकर पांडव सेना पर और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पर नारायणस्त्र से आक्रमण किया। इस अभिमन्त्रित अस्त्र की यह विशेषता थी कि उसके विरुद्ध जो भी योद्धा युद्ध करने का प्रयास करे तो वह अस्त्र उतना प्रबल और आक्रामक होकर शत्रु को दध कर देता था। इस कारण उसका प्रतिकार करके जीतना असम्भव था। श्रीकृष्ण इस बात को जानते थे। उन्होंने अर्जुन सहित युधिष्ठिर और समस्त पांडव पक्ष के सैनिकों को रथ और शस्त्र त्याग कर पृथ्वी पर खड़े होने का निर्देश दिया। श्रीकृष्ण ने भीम पर भी क्रोधित होकर उसे रथ से खींच कर उतार लिया और इस प्रकार सबको उस दिव्यास्त्र से बचाकर अस्त्र को शान्त कर अश्वत्थामा के प्रयत्न को निष्फल कर दिया। (द्रोण पर्व, अ. १९९, २००)

इसके बाद अच्छा रणकौशल दिखाते हुए अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न, सात्यिकी, भीम एवं अन्य कई महारथियों पर आक्रमण किया। अन्य कुछ राजाओं को धराशायी करते हुये इन प्रबल योद्धाओं से भी उसने लोहा लिया। यद्यापि इन्हें वह मार तो नहीं सका किन्तु इनमें से प्रत्येक को परास्त अवश्य कर दिया। यह देख अर्जुन सामने आ गये। जब अर्जुन से अश्वत्थामा जीत नहीं सका तो उसने आग्रेयास्त्र और मायास्त्र इन दोनों का एक साथ प्रयोग कर डाला। इन अस्त्रों से पांडव पक्ष पर चारों ओर से अग्निवर्षा होने लगी और साथ ही राक्षसों और पिशाचों का भी आक्रमण होने लगा (द्रोण पर्व २०१. १५ से ३५) तब अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र केवल उक्त अस्त्रों के विनाश के लिये प्रकट किया, (उपरोक्त सन्दर्भ, १लोक-३६)। इस प्रकार अर्जुन द्वारा युद्ध-धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए ही उक्त दिव्यास्त्र का प्रयोग किया गया, जब कि अश्वत्थामा दिव्यास्त्रों का अमर्यादित प्रयोग करके उन पर नियंत्रण खोता जा रहा था।

उपरोक्त वर्णन से प्रकट होता है कि उसमें पर्यान्त बल था और शस्त्रास्त्रों का अतुलनीय ज्ञान भी था, किन्तु वह वीर नहीं था। वीरता का

चिन्ह है लड़ते लड़ते मर जाना किन्तु धर्म का त्याग नहीं करना। किन्तु जैसे जैसे युद्ध निर्णयिक बिन्दु की ओर बढ़ने लगा, अश्वत्थामा धर्म का उल्लंघन करते करते नीच से नीचतम पापकर्म की ओर प्रवृत्त होता गया।

युद्ध के अंतिम दिन (१८ वें दिन) जब युधिष्ठिर द्वारा कौरव सेना के (चौथे) सेनापति शल्य का भी वध कर दिया गया तो कौरव पक्ष में दुर्योधन के अतिरिक्त तीन महारथी-अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा-ही शेष बचे थे। ये तीनों भाग कर दुर्योधन के पास वहाँ पहुँचे जहाँ दुर्योधन पांडव सेना के आक्रमण का सामना करने में अपने को असमर्थ पाकर कुछ समय के लिये पलायन करने को तत्पर था। पांडव सेना का विजय घोष सुनकर दुर्योधन तो भाग कर पास के एक जलाशय में (सम्भवतः पानी के अन्दर चलनेवाली नाव में) जाकर छिप गया और ये तीनों भाग कर वन में छिप गये। कुछ समय पश्चात जब पांडवों को दुर्योधन के जलाशय में छिपने की जानकारी मिली तो युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन को साथ लेकर श्रीकृष्ण जलाशय पर गये और दुर्योधन को ललकारते हुये किसी एक पांडव योद्धा से निर्णयिक युद्ध करने की चुनौती दी। तब दुर्योधन ने भीम से गदा-युद्ध करना स्वीकार किया। इस भीषण गदा युद्ध में भीम ने उस प्रतिज्ञा को याद करके, दुर्योधन की बाई जांघ की हड्डी गदा प्रहार करके तोड़ दी, जो कि उसने तब की थी जब जुओं के बाद राज्य सभा में दुर्योधन ने द्वौपदी को अश्लील इशारा और शब्द कहते हुए अपनी बाई जांघ दिखाई थी। जांघ टूटने पर दुर्योधन धराशायी हो गया। इस प्रकार, युद्ध समाप्त हुआ मान कर पांचों पांडव श्रीकृष्ण और सात्यिकी के साथ पवित्र ओघवती नदी पर स्नान करने और आगे के कार्यक्रम पर विचार करने के लिये चले गये। इधर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा वन में जाकर विश्राम करने लगे।

वहाँ रात्रि में अश्वत्थामा ने देखा कि वृक्ष पर कौओं के निर्भय होकर सो जाने पर एक बड़े उलू पक्षी ने पृथक पृथक घोंसलों पर आक्रमण करके अनेक कौओं को मार डाला (सौसिंक पर्व, १.३६ से ४४)। दुष्टात्मा अश्वत्थामा ने विचार किया कि मैंने शत्रुओं को नाश करने का जो आश्वासन मरणासन मित्र दुर्योधन को दिया है उसे मैं इसी प्रकार पूरा कर सकता हूँ न्यायानुकूल युद्ध

करके तो वह कार्य किया जाना सम्भव नहीं है (श्लोक-४७, ४८)। उसने कृपाचार्य और कृतवर्मा को अपना विचार बतलाया कि 'पिता द्रोणचार्य को मारने वाले धृष्टद्युम्न, भीष्महन्ता शकुनि तथा मित्र दुर्योधन के प्रबल शत्रु पांडवों के पुत्रों को, जो सभी अब विजय प्राप्ति के बाद निश्चिन्त हो सो रहे हैं, मार कर ही मैं चैन पा सकूंगा। आज पांडव यहाँ नहीं हैं, वर्णा सब से पहले तो मैं उन्हें ही समाप्त करता। खैर, उनके यहाँ न होने से अब इस कार्य को सम्पन्न करने में किसी बाधा आने की भी सम्भावना नहीं है, अतः हमें यह कार्य अभी इसी समय अवश्य कर लेना चाहिये।' कृपाचार्य और कृतवर्मा दोनों ने उस पाप पूर्ण विचार को त्याग देने की सलाह दी और कहा कि सूर्योदय होने पर वे तीनों शत्रुओं पर आक्रमण करेंगे। कवच उतार कर सोये हुओं पर आक्रमण करना ऐसा कार्य होगा जिससे इस लोक में भी हम कलंकित हो जायेंगे और परलोक में भी दुःसह नरक भोगना पड़ेगा (सौमिक पर्व, ५. १३, १४)।

अश्वत्थामा ने उक्त सलाह नहीं मानी और अकेला ही रथ तैयार कर आरूढ़ हो गया। तब कृपाचार्य और कृतवर्मा भी अश्वत्थामा के साथ हो गये। अश्वत्थामा सब से पहले धृष्टद्युम्न के शिविर पर गया। कृपाचार्य और कृतवर्मा को शिविर के द्वार पर खड़ा कर किसी को भी शिविर से भागने न देने का कहकर स्वयं अन्दर गया और धृष्टद्युम्न को ढूँढ़कर उसका गला पैर से दबाकर उसे तड़पा-तड़पा कर मार डाला। तब पास के शिविरों में उत्तमौजा को तथा युधामन्यु को भी इसी प्रकार मार डाला। फिर वह पांडव पुत्रों के शिविरों में उन्हें मौत के घाट उतारता हुआ शिखण्डी के शिविर में घुसा और उसे भी मारकर, द्रुपद के शेष बचे पुत्रों, पौत्रों और सुहृदों को मार डाला। जो कोई भी शिविर से भागने की कोशिश करता उसे कृपाचार्य और कृतवर्मा तलवार से काट डालते थे (श्लोक-१०६)। ये दोनों प्रत्येक शिविर को तीन ओर से आग लगाते (श्लोक-१०९) और दरवाजे से भागने का प्रयास करने वालों को तलवार से मार डालते थे। प्रातः काल पौ फटने तक यह नर संहार पूर्ण करके तीनों उस स्थान पर गये जहाँ दुर्योधन मृत्यु की प्रतिक्षा में पड़ा था। वहाँ अचेत पड़े दुर्योधन को जब तीनों ने उसके मन को तसल्ली देने वाला यह वृतान्त सुनाया तो दुर्योधन को पुनः होश आ गया

(श्लोक-१.५३) और उसने तीनों को गले लगाते हुए कहा कि 'मित्र अश्वत्थामा, तुमने आचार्य कृप और कृतवर्मा के साथ आज जो कार्य कर दिखाया है उसे न तो पितामह भीष्म, न ही तुम्हारे पिता और हमारे गुरु आचार्य द्रोण और न ही मित्र कर्ण कर सके थे। तुम सब का कल्याण हो'। यह कहकर उसने प्राण त्याग दिये।

दुष्कर्म और आन्तरिक गिरावट एक दूसरे को बल प्रदान करते हुए मनुष्य को किस प्रकार सर्वनाश की ओर धकेलते जाते हैं, इसका चित्रण महाभारतकार ने अश्वत्थामा के चरित्र में बड़ी स्पष्टता से किया है। उपरोक्त घटना क्रम की अगली कड़ी इसी तथ्य को प्रकाशित करती है।

सोये हुए पाञ्चालों (द्रौपदी के भाईयों) और पांडव पुत्रों का वध कर देने की अपनी 'बहादुरी' का वर्णन दुर्योधन को सुना देने के बाद अश्वत्थामा रथ पर सवार होकर तुरन्त वहाँ से चला गया क्योंकि उसे डर था कि शीघ्र ही भीम/अर्जुन उस पर आक्रमण करने अवश्य आएंगे। इधर धृष्टद्युम्न के सारथि द्वारा जब पांडवों को अश्वत्थामा की उस दुष्टता की सूचना मिली तो वे दुःख से अचेत हो गये। फिर उन्हें यह चिन्ता हुई कि अपने पुत्रों और भाईयों के वध के इस अप्रत्याशित समाचार को सुनकर द्रौपदी की क्या दशा होगी। दुःख और इस चिन्ता से पीड़ित पांडव तुरन्त शिविरों को लौटे। द्रौपदी उस समय उपलब्ध नगर गई हुई थी। उसे जब लाया गया तो वह शोक से अचेत हो गई। जब कुछ सावधान हुई तो बोली कि आज आप लोग उस पापाचारी अश्वत्थामा का वध नहीं कर देते और वह मणि लाकर मुझे नहीं बतलाते जिसे मस्तक में लिये ही, जैसा कि कहा जाता है कि, वह पैदा हुआ है, तो मैं अनशन करके अपने जीवन का अन्त कर दूँगी। (सौमिक पर्व, ११.१५)।

द्रौपदी के इस निश्चय को सुनकर भीम तुरन्त रथ पर सवार होकर अश्वत्थामा को ढूँढ़ने उसके रथ के पहियों के निशान देखते हुए चल दिया (अ. ११)। इधर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम का अकेले जाना उचित नहीं हैं क्योंकि अश्वत्थामा को द्रोणाचार्य से ब्रह्मास्त्र की शक्ति प्राप्त है, दूसरे वह क्रोधी, दुष्टात्मा, चपल और क्रूर है, अतः उससे भीमसेन की रक्षा

करना आवश्यक है (१२.४७)। श्रीकृष्ण ने कहा कि उसमें धीरता तो है नहीं और वह अति महत्वाकांक्षी भी है। उन्होंने वह घटना भी सुनाई जब अश्वत्थामा ने द्वारका जाकर श्रीकृष्ण से सुदर्शन चक्र देने की याचना की थी ताकि वह संसार का एकमात्र अजय व्यक्ति बन जाये, किंतु जब वह चक्र को उठा ही नहीं सका तो निराश होकर लौट गया था। श्रीकृष्ण ने कहा कि इन सब बातों को देखते हुए हमें भीम की रक्षा हेतु तुरन्त चल देना चाहिये। श्रीकृष्ण ने अपने उस गरुड़-ध्वजी रथ पर, जिस पर ब्रह्मास्त्र का प्रभाव नहीं हो सकता था, अर्जुन और युधिष्ठिर को बैठाया और दिव्य घोड़ों को दौड़ा दिया। दोनों रथ (भीम और श्रीकृष्ण के रथ) लगभग एक साथ ही गंगातट पर पहुंचे जहां ऋषियों के साथ कुशचीर धारण किये कूरकर्मा अश्वत्थामा बैठा था।

क्रोध से भरे हुए भीमसेन को और पीछे श्रीकृष्ण सहित अर्जुन और युधिष्ठिर को देखकर अश्वत्थामा ने एक सींक उठा, उसे अभिमन्त्रित करके 'यह ब्रह्मास्त्र पांडवों का नाश करे' इस संकल्प के साथ प्रेषित कर दिया (अ. १३)। श्रीकृष्ण अश्वत्थामा के भाव को पहले ही ताड़ गये थे। उन्होंने अर्जुन को कहा—'गुरु द्रोण द्वारा (शक्तिपात दीक्षा द्वारा) उपदेशित जो दिव्य अस्त्र तुम्हारे हृदय में विद्यमान है अपनी रक्षा के लिये तुम भी उसका प्रयोग करो, यह उसका धर्मानुकूल प्रयोग होगा।' तब अर्जुन ने रथ से उतर कर सर्व प्रथम कामना की कि द्रोण पुत्र का कल्याण हो, तब भाइयों सहित अपनी रक्षा की कामना करते हुए ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया। तब अर्जुन के ब्रह्मास्त्र की अग्नि ने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र की अग्नि को धेर लिया जिससे चारों ओर भयंकर उत्पात होने लगे (अ. १४)। उस समय वहाँ नारद और मुनि व्यास का प्राकट्य हुआ। उन्होंने अश्वत्थामा और अर्जुन को जन कल्याण हेतु अपने अपने दिव्यास्त्र वापस लौटा लेने का निर्देश दिया। अर्जुन की प्रार्थना पर उसका दिव्यास्त्र तो शान्त होकर उसके हृदय में पुनः स्थित हो गया किन्तु अश्वत्थामा ऐसा कर पाने में असफल रहा क्योंकि उस शक्ति का दुरुपयोग किये जाने के कारण उसे पुनः धारण करने की सामर्थ्य वह खो चुका था। अतः अश्वत्थामा ने पांडव वंश के किसी भी एक सदस्य पर उसे चला कर कुछ भी दंड भुगत लेने का प्रस्ताव किया।

तब भगवान् कृष्ण ने कहा कि अश्वत्थामा उस शक्ति को दिवंगत अभिमन्यु की पल्लि उत्तरा के गर्भस्थ शिशु पर चला दे और अपने मर्स्तक की वह दिव्य मणि युधिष्ठिर को सौंप दे जिसके बल पर वह दिव्यास्त्रों को धारण कर रहा था। गर्भस्थ शिशु को पुनर्जिवित करने में (जीवात्मा को उसी शिशु शरीर में पुनः प्रवेश कराने में) श्रीकृष्ण समर्थ थे इस कारण अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को निष्फल करने का उन्होंने यह मार्ग निकाला। अश्वत्थामा को उन्होंने यह भी दंड दिया कि मणि निकाल कर देने से बने घाव की पीड़ा को वह तीन हजार वर्ष तक भुगतते रहेगा। (१६.१०)। प्रतीक रूप में वर्णित यह शाप कथन उस नियम का ही रूपान्तरण हो सकता है जिसे गीता में भगवान् ने यह कह कर व्यक्त किया है कि काम (कामना), क्रोध, दर्प और द्वेष में डूब कर कूर पापकर्म करने वाले नराधम बार-बार आसुरी और फिर राक्षसी योनियाँ प्राप्त करते रहते हैं (१६.१८ से २०), जब तक कि उनमें ज्ञान-चेतना का उदय होकर वे कुमार्ग से हटने का दृढ़ निश्चय नहीं कर लेते (१.३०)।

अश्वत्थामा की दुष्टता में सहयोगी कृपाचार्य और कृतवर्मा

उपरोक्त दुष्टता के कार्य में अश्वत्थामा के सहयोगी बनने के अतिरिक्त इन दोनों पात्रों की और कोई विशेष भूमिका 'महाभारत' में वर्णित नहीं है। सोये हुए शत्रुओं का वध करने के अश्वत्थामा के प्रस्ताव का इन्होंने प्रारम्भ में तो समर्थन नहीं किया किंतु जब अश्वत्थामा अकेला ही उस कार्य के लिये आगे बढ़ा तो ये दोनों भी उसके साथ हो गये और फिर उसके निर्देशानुसार इन्होंने शिविरों में आग लगाने और भागते लोगों को तलवार से काट फेंकने का निकृष्ट कार्य किया। प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने यहाँ दुष्ट प्रवृत्तिवाले व्यक्ति के मन, बुद्धि, और कर्ता रूप जीवात्मा को क्रमशः अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा से निरूपित किया है। उर्ध्वगामी व्यक्ति की इन्द्रियें-मन-बुद्धि-जीवात्मा क्रमशः अधिक चैतन्य और शक्तिशाली होती हैं और वह ऊपरवाली सत्ता से नीचे वाली को नियंत्रण में रखता है (गीता ३.४२,४३) किंतु इसके विपरीत स्थिति होती है अधोगामी की और यहाँ इस अधोगामी व्यक्तित्व का निरूपण हुआ है। मन रूप अश्वत्थामा के

पीछे बुद्धिरूप कृपाचार्य और अहंकार (जीवात्मा) रूप कृतवर्मा चल रहे हैं। कृपाचार्य बुद्धि को निरूपित करते हैं यह इस रूप में इंगित किया गया है कि वे पहले तो यह धर्म सलाह ही देते हैं कि सोये हुओं पर आक्रमण उचित नहीं होगा, प्रातःकाल हम उनपर आक्रमण करेंगे, किंतु फिर दुष्ट मन रूप अश्वत्थामा का अनुसरण करने लगते हैं।

इन तीनों के नामों से भी इनके ये प्रतीकार्थ थोड़ा-सा चिन्तन करने पर ही प्रकट हो जाते हैं। अश्वत्थामा शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है—‘अश्वस्येव स्थाम बलमस्य’ (स्थाम=सामर्थ्य) और वैदिक साहित्य में अश्व का इन्द्रियाँ/मन के प्रतीक के रूप में वर्णन प्रसिद्ध ही है, अतः अश्वत्थामा मन की सामर्थ्य/बल का प्रतीक है। कृपाचार्य शब्द में ‘कृप’ दुर्बल होने, बंधे होने के भाव को प्रकट करता है (कृप से बने कृपण शब्द का अर्थ है—विवेकशून्य, नीच, अधम, दुष्ट)। अतः कृपाचार्य द्वारा उस बुद्धि को निरूपित किया गया है जो दुर्बल होने से मन के नियंत्रण में हो जाती है। अब तीसरे पात्र कृतवर्मा के निरूपित अर्थ की तलाश करें तो स्पष्ट है कि यह शब्द ‘कृत’ और ‘वर्म’ से बना है। कृत का अर्थ है ‘किया हुआ’ तथा वर्म=वृ+मानिन्, वृ=अपने लिये वरन करना, चुनना; और मानिन्=सोच विचार कर स्वीकार किया हुआ; अतः हमारा अनुमान है कि यहाँ कृतवर्मा उस जीवात्मा को निरूपित करता है जिसने उपरोक्त मन, बुद्धि का वरण किया है।

इस प्रकार, ये तीनों एक ऐसे व्यक्तित्व के मन, बुद्धि और अहंकार रूप जीवात्मा को निरूपित कर रहे हैं जो अभी घोर तमस में डूबा हुआ है और जिसका तामसिक मन इतना बलवान है कि वह बुद्धि और कर्ता-भोक्ता रूप जीवात्मा को भी अपनी वृत्तियों में खींच लेता है।

नृशंस हत्याकांड के वर्णन द्वारा मानवता को प्रेषित सन्देश

दुर्योधन के धराशायी हो जाने पर युद्ध का जो उद्देश्य था कि राज्य सत्ता पर किस पक्ष का अधिकार रहेगा इसका निर्णय तो हो चुका था किन्तु वैमनस्यता की समाप्ति नहीं हुई थी और अश्वत्थामा—कृप—कृत की तिकड़ी द्वारा किये गये नृशंस हत्याकांड के वर्णन से मनुष्य समाज के समक्ष यह समस्या उपस्थित की गई है कि भौतिक बल के साथ नैतिक बल से अन्यायी

को पराजित तो किया जा सकता है किन्तु राग, द्वेष के बीज की समाप्ति नहीं होती, वरन् वह अधिक विषैला हो उठता है; इस समस्या का क्या कोई समाधान ढूँढ़ा जा सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण के बाद भगवान् बुद्ध ने मनुष्य को जो वैराग्य और आत्म-जाग्रति का मार्ग दिखाया वह कुछ सौ वर्षों तक तो बड़ा प्रभावी प्रतीत हुआ किन्तु अन्ततः अन्यायी और लोभी लोगों के गलत कारनामों के विरुद्ध प्रतिकार की क्षमता का जन-मानस में ह्वास होने से भारत सहित कई देश, विदेशी आक्रमणकारियों की लूट, गुलामी और शोषण के शिकार हो गये। समस्या के समाधान की कड़ी में महात्मा गांधी का अहिंसा और सत्याग्रह के प्रयोग की सफलता से आशा अवश्य बंधी, किंतु अभी तक की इस सम्बन्धी घटनाओं को देखें तो निष्कर्ष यह निकलता प्रतीत होता है कि बड़े क्षेत्रों में भी सफलता वर्ही मिली है जहाँ नेतृत्व में इतना आत्मिक बल था कि वह जन-मानस में उस बल को तात्कालिक रूप से, भले ही जाग्रत कर सका (उदा. भारत में महात्मा गांधी, दक्षिण अफ्रिका में नेल्सन मंडेला, म्यांमार में आंग-सान-सू. की); किंतु अधिकांश अन्य प्रकरणों में तो इसके भी दुरुपयोग और दुष्प्रभाव ही अधिक देखने में आ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्या के स्थाई समाधान के लिये तो मनुष्य को तब तक प्रतीक्षा करना पड़ेगी जब तक की मानव जाति में गीता में वर्णित 'दैवी प्रकृति' से सम्पन्न (१.१३, १६. १ से ३) लोग बह-संख्या में नहीं हो जाते।

जब तक वह स्थिति नहीं बनती तब तक तो जाग्रत मनुष्यों का यह कर्तव्य बनता है कि मानव मूल्यों के दुश्मन लोगों के पास परमाणु बम जैसी विनाशक शक्ति के फैलाव को और जिनके पास यह पहुंच चुकी है (उदा. पाकिस्तान और उत्तर कोरिया) उन्हें इसके दुरुपयोग से रोकने के लिये मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कारगर कदम उठायें। ये देश बार-बार अपने पड़ोसियों को ब्रह्मास्त्र के भौतिक रूप परमाणु बम की जो धमकियाँ दे रहे हैं उससे प्रकट है कि उनमें उसे धारण करने की क्षमता उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार की अश्वत्थामा में नहीं थी। वस्तुतः जो भी व्यक्ति या राष्ट्र आत्मिक स्तर पर कमजोर होता है और जो अभी तमस से बाहर नहीं

निकल पाया है, उसके पास ऐसी विनाशक शक्तियों का होना मानवता के लिये बड़े संकट का कारण बन सकता है जिसका उपाय समझदार राष्ट्रों को एकजूट होकर ढूँढ़ना होगा।

महाभारत में वर्णित एक और त्रासदी का जिन्हे भी वर्तमान समय में पुनः सिर उठाता दिखाई दे रहा है। कौरव सभा में द्रौपदी के अपमान की उस घटना का वर्णन करके लेखक ने वस्तुतः उस सामाजिक सोच का दर्शन कराया है जिसमें बाद में घटी सर्वविनाशी (युद्ध की) घटनाओं का जन्म लेना लाजिमी था। जिस समाज में (जड़) वस्तु की तरह स्त्री को पुरुष के आधिपत्य की वस्तु समझा जाय उसका हस्त महाभारत के विनाश के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? वर्तमान काल में उक्त वर्णित त्रासदी पर विचार करना हमारे लिये दो सन्दर्भों के परिपेक्ष्य में बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है-

1. विश्व स्तर पर इस्लामिक कट्टरवादी संगठन आई.एस.आई.एस. का उदय। इस संगठन का स्त्री जाति के प्रति दृष्टिकोण बहुत कुछ वही है जिसे महाभारतकार ने चित्रित किया है। ये कट्टर पंथी स्त्री शिक्षा को भी गैर-इस्लामिक करार देकर उनको इन्सान भी नहीं मानते। यह तो तामसिक शक्तियों की पक रही चासनी का एक पूर्व संकेत भर है जिसके प्रबल होने से पहले ही सभ्य राष्ट्रों को मिलकर कदम उठाने में विलम्ब नहीं करना चाहिये।

2. हमारे देश में भी व्यक्तिगत स्तर पर बढ़ती जा रही बलात्कार और घरेलू हिंसा की घटनायें भी क्या स्त्री के प्रति 'कौरव महासभा की सोच' को नहीं दर्शा रही हैं? इतना ही नहीं, इस समस्या के प्रति हमारे कुछ वयोवृद्ध नेताओं की टिप्पणियाँ भी भीष्म पितामह की द्रौपदी के प्रश्न के उत्तर में कहे गये इस कथन की याद दिलाते हैं कि 'कहना मुश्किल है कि युधिष्ठिर का जुएं में पत्नी को दांव पर लगाना धर्म-सम्मत था या नहीं?' यह सब इसलिये विचारणीय है कि हम देखें हमारे समाज की सोच किस ओर बढ़ रही है—तमस की ओर अथवा सत्त्व और अध्यात्म की ओर?

श्रीकृष्ण : आत्म-जाग्रत धर्मसंस्थापक महापुरुष के व्यक्तित्व का त्रिस्तरीय वर्णन

महाभारत में वर्णित श्रीकृष्ण इतिहास के महापुरुष है, पुराणों के अवतार-पुरुष है और अध्यात्म के महेश्वर। छान्दोग्य उपनिषद (३.१७.६) में कहा गया है कि जीवन को यज्ञ (निःस्वार्थ कर्म के) रूप में जीने की शिक्षा घोर नामक महर्षि आंगिरस ने देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को दी थी जिसे जीवन में उतारकर वे पूर्ण पुरुष बने। परवर्ती काल में इन्हीं श्रीकृष्ण को महाभारत कथा में उक्त तीनों रूपों में वर्णित किया गया है। इस वर्णन द्वारा बताया गया है कि उस कर्मयोग को सिद्ध करके, जिसकी विवेचना स्वयं उन्होंने अर्जुन के लिये गीता में की है, व्यक्ति जहाँ समाज में अन्याय और अत्याचार का नाश करके धर्माचरण की स्थापना करने में सफल होता है, वहीं वह अपने हृदय में अध्यात्म की ऊँचाईयों को भी प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इतिहास के इस महापुरुष की गाथा द्वारा यहाँ मानव जीवन की सम्पूर्णता को हमें दृष्टिगत कराया गया है। ग्रंथ के मूल आध्यात्मिक उद्देश्य के अनुरूप कृष्ण चरित्र के द्वारा यहाँ हमें जाग्रत हुए आत्मतत्त्व वाले व्यक्तित्व का दर्शन कराकर 'सर्वभूत हिते रतः' वाले उनके जीवन और वचन का अनुसरण करने का संदेश दिया गया है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि महाभारतकार ने इतिहास, पुराण और अध्यात्म इन तीनों का समन्वय इस पात्र के वर्णन में किया है। सम्भवतः यह इसलिये किया गया है क्योंकि मनुष्य की चेतना को तीन स्तर प्राप्त हैं जिन्हें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक नामों से सम्बोधित किया जाता है और जो क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर स्थित चेतना के रूप हैं। श्रीकृष्ण में चेतना के ये तीनों स्तर जाग्रत हो चुके हैं। इसका दर्शन हमें लेखक ने ऐतिहासिक वर्णन के साथ अनेक स्थलों पर प्रतीकात्मक वर्णन करके कराया है।

मुख्य घटनाओं का वर्णन

श्रीकृष्ण द्वारका से पांच बार आकर पांडवों से मिले हैं किन्तु यहाँ हम

इनमें से उन तीन घटनाओं की विवेचना करेंगे। जो धर्म की स्थापना करने और दुष्टों का नाश करने हेतु ही उनके जन्म लेने की घोषणा की पुष्टि करती हैं।

प्रथम हस्तक्षेप

महाभारत के रांगमंच पर श्रीकृष्ण सर्वप्रथम द्रौपदी के स्वयंवर के समय दिखते हैं। लक्ष्य भेद करने में दुर्योधन सहित अन्य सभी राजाओं के असफल होने किन्तु ब्राह्मण वेशधारी एक युवक (अर्जुन) के सफल होने पर जब क्रोधित राजाओं ने द्रुपद पर आक्रमण किया तो एक युवा ब्राह्मण (भीम) ने महाबली शल्य का और दूसरे युवा ब्राह्मण (अर्जुन) ने कर्ण का वीरतापूर्वक सामना करके उन्हें परास्त कर दिया। उस समय अन्य राजाओं को श्रीकृष्ण ने यह कहकर कि 'इस वीर ब्राह्मण ने धर्मपूर्वक द्रौपदी को प्राप्त किया है' उन्हें युद्ध से हटा दिया। श्रीकृष्ण के पांडवों का सहायक बनने की गाथा यहीं से प्रारम्भ होती है। वे पांडवों को उनके हाल पर नहीं छोड़ देते वरन् उनकी सहायता करके धर्मराज्य की स्थापना करने की बात मन में ठान लेते हैं। वे राजा द्रुपद के आमन्त्रण पर आये थे, अब यहाँ रुक कर हस्तिनापुर से आगामी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि सबको यह ज्ञात हो गया था कि पांडव अग्निकांड के षडयंत्र से जीवित बच गये हैं। अतः हस्तिनापुर से या तो दुर्योधन खेमे के आक्रमण की आशंका थी अथवा धृतराष्ट्र द्वारा पांडवों पर स्नेह जताते हुए उन्हें हस्तिनापुर बुलाये जाने की संभावना थी जिससे वह स्वयं पर लगे कलंक का परिमार्जन कर सके। इस दूसरी परिस्थिति में भी दुर्योधन गुट के किसी आगामी षडयंत्र से पांडवों की सुरक्षा करना आवश्यक था।

उक्त दूसरे अनुमान के अनुसार ही घटनाक्रम घटित होता है और अन्ततः पांडवों को लिवा लाने के लिए धृतराष्ट्र विदुर को द्रुपद के यहाँ भेजते हैं। पांडवों के साथ श्रीकृष्ण भी हस्तिनापुर जाते हैं। वे वहाँ भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर के माध्यम से धृतराष्ट्र के मन में यह बात अंकित करने में सफल होते हैं कि दुर्योधन, शकुनि और कर्ण- इन तीनों की तिकड़ी के षडयन्त्रों से राज्य की क्षीण होती प्रतिष्ठा और शक्ति को बचाने का एक मात्र उपाय यही

होगा कि पांडवों को राज्य का एक भाग अलग सौंप दिया जाय। जब धृतराष्ट्र उजाड़ खांडवप्रस्थ प्रदेश का राज्य पांडवों को देने का प्रस्ताव करते हैं तो श्रीकृष्ण उस पर भी सहमति दे देते हैं। पांडवों के साथ वे खांडवप्रस्थ जाकर उस उजाड़ और पिछड़े प्रदेश को भी सम्पन्न बनाने में जुट जाते हैं। वे इन्द्रप्रस्थ नाम के एक भव्य और स्पृहणीय नगर का निर्माण करवा कर उसे राज्य की राजधानी बनवाते हैं। इस प्रकार वे पांडवों के उस राज्य को सब प्रकार से सुदृढ़ा प्रदान करके द्वारका लौट जाते हैं।

द्वितीय हस्तक्षेप : इन्द्रप्रस्थ राज्य को एक शक्ति सम्पन्न साम्राज्य बनाना

कुछ काल उपरान्त पांडवों के उस छोटे से राज्य को एक धर्म-धुर साम्राज्य के रूप में स्थापित करवाने हेतु श्रीकृष्ण द्वारका से पुनः इन्द्रप्रस्थ आते हैं। इस हेतु वे पांडवों से राजसूय यज्ञ करवाने की रूपरेखा बनाते हैं। इस कार्य में बाधक प्रमुख तीन दुष्ट शक्तियों पर वे एक-एक करके विजय प्राप्त करने की योजना बनाते हैं।

१. खांडव वन को आतंकियों और लुटेरों से मुक्त कर उसे उत्पादक क्षेत्र बनाना

सर्वप्रथम वे खांडव वन नामक घनधोर वनक्षेत्र को भयंकर हिंस्त्र दस्युवृत्ति वाले आतंकियों से मुक्त करवाने हेतु उस क्षेत्र को धेरकर उन पर अर्जुन के साथ आक्रमण करते हैं और उनके छिपने के अड्डों को जलाकर नष्ट कर देते हैं। इस घटना का आधिदैविक-आध्यात्मिक रूपान्तरण ग्रंथ में विस्तार से (आदि पर्व, अध्याय २२१ से २३३ में) वर्णित है।

२. राजा जरासंध के आतंकी शासन का नाश

इसके पश्चात् वे प्रबल सैन्य शक्ति से सम्पन्न मगथ के दुष्ट सम्राट जरासन्ध के आतंक को समाप्त करने की योजना बनाते हैं। क्रूर जरासंध ने अनेक छोटे राज्यों के राजाओं को कैद कर रखा था और उसकी योजना उनकी सामूहिक हत्या कर के पूरे क्षेत्र में आतंक फैला कर निरंकुश सम्राट बनने की थी। उसे सैन्य युद्ध में जीतना एक तो बहुत ही दुष्कर कार्य होता, दूसरे बहुत बड़ा जन-संहार होता। अतः श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन के साथ

ब्राह्मण वेश धर कर अपनी बुद्धिमत्ता से जरासंध की राज्यसभा में पहुंच कर भिक्षा प्राप्ति के रूप में उसके साथ मल्लयुद्ध करने की इच्छा व्यक्त करते हैं। जरासंध के लिये परिस्थितिवश उस चुनौती को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। भीम द्वारा जरासंध मारा जाता है। बंदी राजाओं को मुक्त करके और जरासंध के पुत्र को राजगद्वी पर बैठाकर उन सबकी मित्रता प्राप्त कर ली जाती है और उन्हें इन्द्रप्रस्थ राज्य का सहयोगी बना लिया जाता है। (सभापर्व, अ. १५ से २४; इस प्रसंग के आधिदैविक/आध्यात्मिक तत्त्वों को इंगित करने के लिये वर्णन में बहुत से संकेत रखे गये हैं जिनकी विवेचना हम आगे करेंगे।)

३. अन्य राज्यों से संधियाँ अथवा उन पर विजय

मगध विजय के पश्चात् भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव-चारों भाई चारों दिशाओं में दिव्यिजय यात्रा पर निकलते हैं और सुदृढ़ साम्राज्य स्थापना हेतु उन राज्यों का सहयोग प्राप्त करते हैं। जो सहर्ष स्वीकृति नहीं देते उनपर युद्ध में विजय स्थापित करके सहयोग-सन्धि द्वारा राजसूय यज्ञ में उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करते हैं।

४. बलशाली और अहंकारी चेदि नरेश की बाधा का निराकरण

उस समय एक बड़ी बाधा बलशाली चेदि राज्य था। उसका शासक शिशुपाल पांडवों का मौसेरा और श्रीकृष्ण का फूफेरा भाई तो था किन्तु अत्यन्त अहंकारी था। उसे आदरपूर्वक आमंत्रित किया गया। यह समझकर कि उसे मुख्य अतिथि का सम्मान दिया जायेगा, चेदि नरेश उस राज्योत्सव में उपस्थित होते हैं। किन्तु जब भीष्म पितामह की अनुशंसा पर सर्वश्रेष्ठ आदरणीय पुरुष का सम्मान श्रीकृष्ण को दिया जाता है तो चेदि नरेश अपना आपा खोकर भीष्म, पांडवों और श्रीकृष्ण पर अपशब्दों की बौछार शुरू कर देते हैं। श्रीकृष्ण को धोखेबाज बताते हुए वह उन्हें बलहीन, तुच्छ और कायर घोषित करता है। तब भीष्म पितामह शिशुपाल को श्रीकृष्ण से एकल युद्ध करने की चुनौती देते हैं। घमन्डी शिशुपाल तुरन्त तैयार हो जाता है और श्रीकृष्ण उसे मृत्यु की गोद में सुला देते हैं। (सभा पर्व, अ. ३६ से ४५; आध्यात्मिक संकेत-अ. ४३)।

यज्ञ सम्पन्न होता है और युधिष्ठिर को सम्राट के रूप में स्थापित करके श्रीकृष्ण द्वारका लौट जाते हैं।

अंतिम निर्णायक हस्तक्षेप : महाभारत युद्ध

यद्यपि बाह्य बाधाओं का निराकरण हो चुका था किन्तु दुर्योधन आदि का द्वेष तो पांडवों के इस उत्कर्ष से और भी प्रबल हो गया था। वे अब प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो इन्द्रप्रस्थ साम्राज्य को हथियाने का सोच भी नहीं सकते थे, अतः उन्होंने एक दूसरा षडयन्त्र रचा। श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने युधिष्ठिर को जुएं के चंगुल में फंसाया। दुर्योधन ने अपनी ओर से शकुनि को खेलने को बैठाया क्योंकि वह मायावी-विद्या का जानकार था। (यह तथ्य हम युद्ध प्रकरण में पहले उद्घृत कर चुके हैं)। परिणामतः युधिष्ठिर प्रत्येक दाव लगातार हारते चले जाते हैं और अंततः पांडवों को १३ वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ साम्राज्य दुर्योधन को सौंपकर वन में जाना पड़ता है। श्रीकृष्ण को जब यह ज्ञात होता है तो वे द्वारका से आकर पांडवों से वन में मिलते हैं। वे उन्हें उस स्वामंत्रित विपत्ति को धैर्यपूर्वक सहने किन्तु साथ ही भविष्य की घटनाओं का अनुमान करते हुए वर्तमान समय का भी सदुपयोग करने का परामर्श देते हैं। वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्त करने कि सलाह देते हैं ताकि १३ वर्ष पश्चात् यदि कौरव इन्द्रप्रस्थ का राज्य न लौटावें जैसी कि पूरी संभावना थी, तो युद्ध के द्वारा राज्य पुनः प्राप्त किया जा सके। अवधि समाप्त होने पर कृष्ण द्वारका से पुनः लौट कर आते हैं, राज्य लौटाने से बहानेबाजी करने वाले कौरवों को समझाने के लिये वे स्वयं हस्तिनापुर जाते हैं किन्तु दुर्योधन के किसी भी प्रकार न मानने पर युद्ध की घोषणा करते हैं और पांडवों के न्यायपूर्ण पक्ष को विजयी बनाने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। महाभारतकार के अनुसार युद्ध में वे प्रत्यक्ष तो अर्जुन के रथ का संचालन करने वाले सारथी बनते हैं किन्तु वास्तव में धर्मात्मा पांडवों को विजय उनके नेतृत्व से ही प्राप्त होती है। कौरव पक्ष के सभी प्रमुख योद्धाओं का हनन श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन से ही संभव हो पाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण अंततः पांडवों को इन्द्रप्रस्थ सहित हस्तिनापुर के सम्पूर्ण साम्राज्य पर प्रतिष्ठित करवा कर धर्मराज्य की स्थापना करवाते हैं।

नैतिक नियमों के हनन का प्रश्न

श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन को लेकर कभी-कभी यह आलोचना की जाती है कि उन्होंने युद्ध में कई अवसरों पर नैतिकता के विपरीत कदम उठाने का मार्गदर्शन दिया। किन्तु यह आलोचना ग्रंथकार की इस मूल दृष्टि को विस्मृत कर देने के कारण उपजती है कि नैतिक नियम और धर्म व्यक्ति और समाज के समग्र विकास के लिये उपयुक्त सुव्यवस्था की स्थापना के लिये होते हैं और यदि धर्म की रक्षा हेतु आवश्यक हो जाये तो इनका अतिक्रमण करके भी उन आताईयों का हनन किया जाना उचित होगा जिनमें धर्म और नैतिक नियमों के प्रति श्रद्धा है ही नहीं। महाभारतकार की और श्रीकृष्ण की यह दृष्टि सनातन धर्म के इस मूल सिद्धान्त की ही व्युत्पत्ति है कि मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य व्यक्ति और समाज का समग्र विकास है जिसका अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण आध्यात्मिक विकास है। यदि नैतिक नियमों में बंधे रहने से अनैतिकता में छुबे अत्याचारियों को बल मिलता है तो उन परिस्थितियों में नैतिक नियमों का उल्लंघन करना भी धर्म होगा बशर्ते उस कार्य में व्यक्ति का निजी स्वार्थ न हो। श्रीकृष्ण ने द्रोण, कर्ण आदि के वध के लिये पांडवों को नैतिक नियमों को उल्लंघन करने की सलाह तब दी थी जब कि ये लोग इनका पालन कर ही नहीं रहे थे। निःशस्त्र हुए अभिमन्यु पर वार करके उसे मार डालने वाले छः महारथियों में ये भी शामिल थे और गुरु द्रोण से अश्वत्थामा हनन की असत्य बात तो युधिष्ठिर से श्रीकृष्ण ने तब कहलवाई थी जब उन्होंने पांडव सेना पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। दिव्यास्त्रों की दीक्षा तब ही दी जाती थी जब शिष्य यह प्रतिज्ञा लेता था कि वह उनका प्रयोग केवल आत्मरक्षा हेतु ही करेगा और वह भी तब जब उस पर दिव्यास्त्र से आक्रमण किया गया हो। शस्त्रों के आचार्य होकर भी जब उन्होंने इस नियम को तोड़ा तब श्रीकृष्ण ने उक्त असत्य बात युधिष्ठिर से कहलवा कर उन्हें युद्ध से विरत किया था।

महाभारत में श्रीकृष्ण का वर्णन केवल ऐतिहासिक नहीं

महाभारत में वर्णित श्रीकृष्ण की गाथा वस्तुतः इतिहास, पुराण (माझथालॉजी) और अध्यात्म का समन्वय है। ग्रंथ में हमें स्पष्ट देखने को

मिलता है कि ऐतिहासिक वर्णनों के बीच अलग से पौराणिक और आध्यात्मिक संकेत वाले प्रकरण रखे गये हैं और ग्रंथ की भूमिका में ही इसे इतिहास-पुराण कहा गया है।

ऐतिहासिक व्यक्तित्व की बात करें तो श्रीकृष्ण चरित्र की सब से बड़ी विशेषता है उनका पूर्णतः निःस्वार्थ जीवन। उन्होंने न तो अपने सुख के लिये, न अपने को प्रतिष्ठित करने के लिये ही कोई कार्य किया। धर्मचारी सदाचारी व्यक्तियों को राज्य सिंहासनों पर आरूढ़ करवा कर चहुँ और धर्मराज्यों की स्थापना की। यह कार्य उन्होंने जहाँ तक सम्भव हुआ बिना सैन्य युद्ध किए करने की सदा कोशिश की। कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि राजाओं का हनन बिना सैन्य युद्ध के करना इसके सटीक उदाहरण हैं। महाभारत युद्ध न हो इसके लिये भी उन्होंने पूरा प्रयास किया किन्तु अनिवार्य हो जाने पर युद्ध की पीड़ा से डरकर उन्होंने धर्मस्थापना से मुँह भी नहीं मोड़ा।

महाभारत में श्रीकृष्ण गाथा का आधिदैविक- आध्यात्मिक संकेतार्थ क्या है इसके दो पक्षों पर हम विचार करेंगे। एक पक्ष है—स्वयं श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक स्वरूप क्या है? दूसरा पक्ष है—उनके क्रियाकलापों से सम्बन्धित स्थानों/व्यक्तियों/घटनाओं का आधिदैविक /आध्यात्मिक अर्थ क्या है।

श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक स्वरूप

हमारे आध्यात्मिक विकास के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण है उनका सखा/महेश्वर/पुरुषोत्तम रूप। वस्तुतः श्रीकृष्ण इसी आध्यात्मिक सत्ता के मूर्त रूप है जो अर्जुन रूप जीवात्मा के सारथी बन उसे गीता रूप ज्ञान भी दे रहे हैं और युद्ध रूप कर्म का मार्गदर्शन भी कर रहे हैं। अर्जुन ने इसी सत्ता का वरण किया था और उसकी शरण हुआ था। कोई भी मनुष्य अनन्य रूप से उस सत्ता का वरण करते हुए गीता में कहे हुए उनके वचनों के अनुसार निष्काम कर्म पथ को अपना ले तो उसके जीवन रथ का संचालन वे अवश्य करेंगे, इसमें संशय नहीं।

प्रतीकात्मक वर्णन द्वारा घटनाओं का आध्यात्मिक रूपान्तरण

महाभारतकार ने इस ऐतिहासिक पक्ष के वर्णन के साथ कुछ ऐसे अन्य संकेत भी वर्णित किये हैं जिनके प्रतीकार्थ पर विचार करने पर श्रीकृष्ण गाथा के पौराणिक/आध्यात्मिक पक्ष प्रकट हो जाते हैं। यहाँ हमने स्थानों/व्यक्तियों/देवों आदि के नामों के प्रतीकार्थ की जो विवेचना की है उसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना है कि ये घटनायें काल्पनिक हैं, ऐतिहासिक नहीं हैं। हमारा मत है कि घटनायें तो वस्तुतः ऐतिहासिक ही रही होंगी किन्तु नामों का परिवर्तन करके उन नामों के माध्यम से हमें आध्यात्मिक संदेश प्रेषित किये गये हैं जो कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सदा सहायक बने रहेंगे।

१. हस्तिनापुर

महाभारत की मुख्य कथा हस्तिनापुर पर दुर्योधन आदि के दुष्ट दल द्वारा पांडवों के विरुद्ध लगातार षड्यंत्र करके सत्ता हथिया लेने से प्रारंभ होती है और श्रीकृष्ण के हस्तक्षेप से वहाँ पांडवों की सत्ता स्थापित होने पर समाप्त होती है। वैदिक और पौराणिक साहित्य में हस्तिन् अर्थात् हाथी को बुद्धि का प्रतीक बनाया गया है। (बुद्धि के देवता गणेश का मस्तक हाथी का है, ऋग्वेद के श्रीसूक्त में 'हस्तिनाद प्रबोधनीम्' कहकर परमेश्वरीय शक्ति की वंदना की गई है), अतः स्पष्ट है कि इतिहास की गाथा में नगर का वास्तविक नाम कुछ भी रहा हो, महाभारतकार ने उस गाथा का आध्यात्मिक रूपान्तरण करते हुए उस नगर का नाम हस्तिनापुर कह कर बुद्धि के क्षेत्र को इंगित किया है। आरम्भ में बहुधा दुष्वृत्तियाँ प्रबल रहती हैं और वे सद्वृत्तियों को दबा देती हैं, उन्हें जीवन में क्रियाशील नहीं होने देतीं। किन्तु कृष्ण रूप आत्मतत्त्व सद्वृत्तियों को जिस प्रकार उन्हें क्रम से इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के क्षेत्र पर स्थापित करवाता है, उसे ही कथा के रूप में वर्णित किया गया है।

२. खांडवप्रस्थ की राजधानी इन्द्रप्रस्थ

खांडवप्रस्थ व्यक्ति के लिए उसकी इन्द्रियों का क्षेत्र है। खांडव का शाब्दिक अर्थ है—खांड का स्वाद देनेवाला, मीठा अर्थात् सुखानुभूति। अतः खांडवप्रस्थ इन्द्रिय—सुख लालसा से युक्त मन है। अनेक तरह की कामनाएँ और वासनाएँ ही भयंकर वन्य प्राणी हैं जिनका आश्रय स्थल मन बन जाता है। विकास पथ पर आगे बढ़ने के इच्छुक व्यक्ति को वासनाओं से भरे हुए मन को उनसे मुक्त कराना आवश्यक होता है। पांडवों को खांडवप्रस्थ सौंपे जाने का यही संकेतार्थ है।

इन्द्रप्रस्थ को राजधानी बनाने का अर्थ है मन में सर्वप्रथम शुभ संकल्पों का ऐसा केन्द्र स्थापित करना जिनके अनुसार जीवन का शुभ संचालन हो। आध्यात्मिक ग्रंथों में व्यक्ति के संदर्भ में देवताओं से तात्पर्य इन्द्रियाँ और उनके स्वामी इन्द्र का अर्थ मन होता है। मन के भी अनेक रूपों में मुख्य तीन रूप हैं—१. स्वार्थ—वृत्तियों से मुक्त सात्त्विक मन, २. ऐषणाओं (कामनाओं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा) से युक्त राजसिक मन, और ३. सुखभोग की लालसाओं से ग्रस्त तामसिक मन। पौराणिक गाथाओं में तटनुरूप इन्द्र के भिन्न रूपों का चित्रण देखने को मिलता है। पांडवों के लिए श्रीकृष्ण के सहयोग से बसाए गए इन्द्रप्रस्थ को हम आध्यात्मिक अर्थ में शुभ संकल्पों (दैवी संपदा वाले गुणों) का केन्द्र ही मान सकते हैं।

धर्मस्थापना की अगली कड़ी है धर्म सत्ता का क्षेत्रीय विस्तार। इस हेतु से श्रीकृष्ण राजसूय यज्ञ की योजना क्रियान्वित करवाने के लिए पुनः द्वारका से इन्द्रप्रस्थ आते हैं। राजसूय यज्ञ के कर्मकांडीय स्वरूप का उद्देश्य देश को सत्धर्म आधारित एक केन्द्रीय व्यवस्था के अंतर्गत लाना था। व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक स्तर पर यह प्रतीक है व्यक्तित्व के सम्पूर्ण क्षेत्र पर सत्धर्म की सत्ता को स्थापित करने का। इस कार्य में उसके तीन स्तरों से संबंधित तीन प्रकार की बाधाओं के निराकरण की आवश्यकता को खांडव वन दाह, जरासंध वध और शिशुपाल वध की गाथाओं द्वारा इंगित किया गया है।

३. खांडववन दहन

अर्जुन श्रीकृष्ण की सहायता से खांडव वन का दहन करके उसमें छुपे हिंस्त्र प्राणियों पर विजय प्राप्त करते हैं। हम कह चुके हैं कि खांडवप्रस्थ प्रतीक है सुख-भोग की लालसाओं से ग्रस्त मन का। ऐसे मन पर शासन स्थापित करने का अर्थ है संयम द्वारा नियंत्रण। किन्तु इसका लाभ सीमित है। विषय छोड़ने के उपरान्त भी रस अर्थात् विषयों के प्रति जो राग रह जाता है उसकी समाप्ति नहीं होती (गीता २.५१)। ऐसे मन में छुपी हुई कामनाएँ ही खांडववन के हिंस्त्र प्राणी हैं और इन कामनाओं का आधार उनके प्रति राग का होना है। कृष्ण और अर्जुन द्वारा खांडववन को जलाने का तात्पर्य है मन को परम सत्ता से जोड़ कर तप रूपी किसी भी साधना द्वारा रागों से मुक्त करना है। अपनी योग्यता अनुसार साधना कोई भी हो सकती है, उदाहरणार्थ-जप, भजन, ध्यान अथवा प्राणियों की सेवा। इनमें मन को लगाने का सतत प्रयास करना तप है। किन्तु इनमें बाधाएँ उपस्थित होती ही हैं। कथा में इन्द्र जो तक्षक नाग का मित्र है, बाधा डालता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन, देवताओं सहित इस इन्द्र को जब परास्त कर देते हैं तब अग्नि खांडववन का दहन और अर्जुन हिंस्त्र प्राणियों का नाश करते हैं। स्पष्ट ही यहाँ देवता प्रतीक हैं इन्द्रियों में क्रियाशील चेतना के, और इन्द्र उनको पोषण करने वाले मन का। उद्गत चेतन रूप अग्नि के विकास कार्य में जब ये तत्त्व बाधक बनते हैं तो इन बाधक शक्तियों को हटाने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन (नर व नारायण) की आवश्यकता होती है। श्रीकृष्ण (नारायण) अर्थात् आत्म शक्ति और अर्जुन (नर), अर्थात् संकल्प शक्ति, पुरुषार्थ।

इस प्रसंग में प्रथम दृष्ट्या एक विरोधाभास दिखाई देता है। अर्जुन इन्द्र के पुत्र हैं, वनवास काल में वे दिव्यास्त्र प्राप्त करने इन्द्र के पास ही गये थे, इन्द्र ने ही पुत्र अर्जुन की रक्षा सुनिश्चित करने के लिए ब्राह्मण वेश धर कर कर्ण से कवच-कुण्डल दान में प्राप्त किये थे, किन्तु यहाँ इन्द्र तक्षक नाग की रक्षार्थ अर्जुन और श्रीकृष्ण से युद्ध करते हैं और पराजित होते हैं। वस्तुतः महाभारतकार ने इस आध्यात्मिक सत्य को बार-बार इंगित किया

है कि व्यक्ति में उसके व्यक्तिगति के प्रत्येक स्तर पर देवासुर संग्राम चल रहा है। मन का एक सात्त्विक भाग वह इन्द्र है जो अर्जुन रूप में श्रीकृष्ण का सखा है, तो दूसरा तमस अंश वह इन्द्र हैं जो तक्षक नाग (अहंकार) का मित्र है। मन के इन दोनों भागों के बीच युद्ध होता रहता है जिसमें आत्मतत्त्व रूप श्रीकृष्ण की सहायता से सत अंश विजयी होता है।

४. तक्षक नाग है व्यक्ति के अहंकार का प्रतीक

एक और बात पर ध्यान देना उपयुक्त होगा कि इस प्रसंग में तथा जन्मजय के नागयज्ञ वाले प्रसंग में भी तक्षक नाग के नष्ट होने से, बचने का वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि तक्षक उस समय खांडव वन में नहीं था, वह इन्द्र के यहाँ गया हुआ था और यद्यपि इन्द्र देवताओं सहित युद्ध करने खांडवप्रस्थ आये किन्तु तक्षक इन्द्रलोक में छिपा रहा। जन्मजय के नाग यज्ञ वाले प्रसंग में भी तक्षक को आस्तिक मुनि ने जलने से बचा लिया था। निश्चित ही वर्णनों से एक महत्वपूर्ण संकेत दिया गया है। तक्षक नाग अहंकार का प्रतीक है। किन्तु अहंकार के भी दो रूप हैं। व्यक्ति के स्तर पर सद्वृत्तियों को क्रियान्वित करने में भी अहंकार की भूमिका रहती है। अहंकार के विषेष डंक को ही तोड़ना आवश्यक है, समष्टि हित में उसका समूल नाश परमेश्वर को स्वीकार नहीं। वास्तव में अहंकार को नाश करने की सामर्थ्य व्यक्ति को परमेश्वर ने दी ही नहीं है। जब वह सृष्टि की प्रगति में बाधक बनता है, परमेश्वर स्वयं उसे रास्ते से हटा देते हैं। हम आगे देखेंगे कि शिशुपाल वध के प्रसंग में तो इसे भगवान द्वारा अपने में लीन करने के रूप में वर्णित किया गया है। रावण वध के प्रसंग में भी इसे राम द्वारा अपने में लीन करने का उल्लेख है—“तासु तेज समान प्रभु आनन्” (मानस, ६/१०३/५)

५. जरासंध : व्यक्ति की प्राणिक चेतना

राजसूय यज्ञ की सफलता में दूसरी बड़ी बाधा मगथ सम्राट था। उसका तमस स्वभाव छोटे-छोटे राजाओं को कैद करके उनकी सामूहिक निर्दय हत्या करने के क्रूर इरादे से प्रकट है। कथा में उसे दुष्प्रवृत्तियों के मूर्त रूप में इंगित किया गया है। उसका नाम जरासंध संकेतात्मक, अर्थपूर्ण,

और उत्पत्ति की कहानी से जुड़ा हुआ है। उसका जन्म दो माताओं से, प्रत्येक से आधे-आधे शरीर का निर्माण होकर 'जरा' राक्षसी द्वारा जोड़ देने पर हुआ है। उसकी पल्लियाँ दो हैं, पुत्रियाँ दो हैं, मंत्री दो हैं, और रथ भी दो योद्धाओं की सवारी वाला है। एक स्पष्ट संकेत यह कह कर दिया गया कि जरासंध प्राणियों के भीतर स्थित होकर अकेला ही सब सुखों (श्रीयों) का उपभोग करता है। सब संकेतों पर विचार करें तो यह व्यक्ति की प्राणिक चेतना को इंगित करता है जिसकी दो संभावित दिशाएँ हैं—(१) ज्ञान/अध्यात्म का ऊर्ध्वपथ, और (२) अज्ञान/अहंकार का अधोगामी पथ। व्यक्ति को यद्यपि ये दोनों आयाम उपलब्ध हुए हैं किन्तु बहुधा उसका अज्ञान और अहंकार उसे जरासंध बना देता है। 'जरासंध' बना हुआ तो दो प्रकृतियाँ के मेल (संधि) से है किन्तु वह जी रहा है केवल दुर्बलता (जरा) रूप निम्न प्रकृति के क्षेत्र में। ये दो प्रकृतियें, गीता के अनुसार परा और अपरा प्रकृतियाँ, उसकी दो माताएँ हैं। अपरा प्रकृति माया है जो उसे संसार का विस्तार करने के लिए प्रेरित करती है। (इनकी विस्तृत चर्चा हम द्वौपदी और सुभद्रा के विवेचन में कर चुके हैं।) श्री अरविन्द ने इन्हें क्षैतिज (horizontal) और ऊर्ध्व (vertical) विकास की प्रेरणाएँ कहा है। तुलसी ने भी समष्टि चेतना की इन द्विआयामी गतियों को 'दुई माथ' शब्द से इंगिता किया है (मानस १.८३ छं.)। दो पल्लियाँ हैं—दैवी और आसुरी सम्पदा (गीता, अ.-१६), दो पुत्रियों के नाम हैं—अस्ति (होने का भाव, शुद्ध अहम भाव) और प्राप्ति (संसार का स्वामी बनने का भाव), दो मंत्री हैं—हंस और डिम्भक जिन्हें क्रमशः कौशिक और चित्रसेन नाम से भी संबोधित किया गया है। हंस/ कौशिक नाम विवेक बुद्धि को इंगित करते हैं और डिम्भक/ चित्रसेन मन को। रथ शरीर है जिस पर ये दोनों चेतनाएँ आरुढ़ हैं।

सारांश यह कि जरासंध व्यक्ति की प्राणिक चेतना है और मंत्री हैं व्यक्ति के मन और बुद्धि। जब तक ये मंत्री जीवित रहे, उन्होंने जरासंध को नीतिगत मार्ग से डिगने नहीं दिया और वह सुरक्षित रहा। इन मंत्रियों के मरने के बाद जरासंध भटक गया। वह अन्यायी और कूर छो गया। वह धर्म को भी कलुषित करने लगा। उसने संकल्प लिया कि एक सौ राजाओं को

जीत कर वह उनकी बलि भगवान रुद्र को चढ़ाकर साम्राज्याधिपति बनेगा, उस उद्देश्य से छियासी राजाओं को वह बंदी बना चुका था। ऐसी दुष्टता पर उतर चुके जरासंध को श्रीकृष्ण ने भीम से मल्ल युद्ध में मरवाया।

महाभारतकार ने इस प्रकरण में कुछ और आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किये हैं। कंस जरासंध का दामाद था। अतः श्रीकृष्ण से कंस वध का प्रतिशोध लेने हेतु जरासंध ने मथुरा पर बहुत बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया। श्रीकृष्ण ने इसे जरासंध का अपने प्रति द्वेष मानकर सैन्य युद्ध का शंखनाद नहीं किया। वे यादवों सहित मथुरा छोड़कर पश्चिम दिशा में किसी दूरस्थ प्रदेश (द्वारका) चले गये। इस ऐतिहासिक घटना में श्रीकृष्ण का लोकहित के प्रति समर्पण और उनकी अहंकार-शून्यता स्पष्ट प्रकट होती है। महाभारतकार ने इस घटनाक्रम का आध्यात्मिक रूपान्तरण यह कह कर किया है कि जरासंध ने कृष्ण पर १८ बार आक्रमण किये। यह १८ की संख्या सांख्य दर्शन से संबंधित है जो प्रकृति के सूक्ष्म १८ तत्त्वों को दर्शाती है। इस वर्णन का अभिप्राय जरासंध को प्रकृति से उत्पन्न हुई चेतना की प्रथम स्थिति-प्राणिक स्थिति- को इंगित करना है।

जरासंध कृष्ण पर बार-बार आक्रमण करता है किन्तु श्रीकृष्ण उसे केवल पराजित करते हैं, मार नहीं डालते। संकेत यह दिया गया है कि श्रीकृष्ण आत्म तत्त्व हैं और प्रकृति उनकी ही निर्मिती है। उनका प्रकृति से शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति में स्थित जरासंध आदि जीवधारी अपने अज्ञान के कारण श्रीकृष्ण को न पहचानते हुए उन्हें भले ही शत्रु मान बैठें, वे राग-द्वेष से मुक्त केवल सद्कार्य करने वालों के लिए अनुमन्ता तथा सहायक होकर धर्म-स्थापना करवाते हैं। इस बात को महाभारत कथा में बार-बार स्थापित किया गया है कि व्यक्ति अथवा समष्टि के प्रत्येक स्तर—शरीर, मन, प्राण अथवा अहंकार स्तर पर—सात्त्विक और तामसिक शक्तियों के बीच जो सतत् देवासुर संग्राम चलता रहता है उसमें श्रीकृष्ण रूप आत्म तत्त्व प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए सात्त्विक शक्तियों को केवल मार्गदर्शन देकर उनकी विजय का पथ प्रशस्त करते हैं। खांडववन दाह प्रकरण में वे तामसिक मन रूप इन्द्र को सात्त्विक मन रूप अर्जुन से परास्त कराते हैं,

फिर तामसिक प्राण शक्ति रूप जरासंध का वध सात्त्विक प्राणशक्ति रूप भीम से करवाते हैं, तथा अन्त में तामसिक वृत्तियों के मूर्तरूप धृतराष्ट्र पुत्रों के विरुद्ध सात्त्विक वृत्तियों के मूर्तरूप पांडवों को स्वयं युद्ध न करते हुए उन्हें नेतृत्व प्रदान करके विजयी बनाते हैं। महाभारत कथा में श्रीकृष्ण ने स्वयं केवल कंस और शिशुपाल का वध किया है। कंस देहासक्ति का और शिशुपाल जैसा कि हम आगे देखेंगे, अहंकार का मूर्तरूप हैं। इन विकारों का नाश करना व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है। यह कार्य परमेश्वर स्वयं ही व्यक्ति को योग्यता प्राप्त हो जाने पर उसके लिए सम्पन्न करते हैं।

श्रीकृष्ण ने भीम को जरासंध का वध करने की विधि संकेत से समझाई थी, वह भी आध्यात्मिक अर्थ से युक्त है। भीम और जरासंध का मल्हयुद्ध बहुत देर तक चलता रहा किन्तु दोनों में से कोई भी परास्त नहीं हो रहा था। श्रीकृष्ण ने तब भीम को एक संकेत किया। उन्होंने घास का एक तृण चीरकर दो फाड़ कर दी। भीम इशारा समझ गया। उसे जरासंध के जन्म की दो फांकों से जुड़े होने की कहानी याद आ गई। उसने जरासंध को पटक कर उसके शरीर को लम्बवत् पैरों से चीरते हुए दो फाड़ कर डाली किन्तु महान आश्चर्य कि मृत जरासंध की वे दोनों फाड़े पुनः जुड़ गई और वह जी उठा। युद्ध पुनः चालू हो गया। तब श्रीकृष्ण ने पुनः इशारा किया। उन्होंने तिनका चीर कर दोनों हाथों से फाड़ों को विपरीत दिशाओं में फेंका। इस बार भीम ने जरासंध के शरीर की दोनों फाड़ों को विपरीत दिशाओं में फेंक दिया। तब जरासंध मारा गया। इस वर्णन का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि अपनी तामसिक वृत्तियों को समाप्त करने के लिए हम अपने हृदय में झांक कर अपनी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें। हमें परा और अपरा प्रकृति की सात्त्विक और तामसिक प्रेरणायें स्पष्टतः भिन्न दिखेंगी। वस्तुतः चेतना की गति विकासोन्मुखी है। अतः अधोगति की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों की पहचान होते ही व्यक्ति में उन्हें त्याग देने की इच्छा और पश्चात् संकल्प जागेगा अर्थात् जरासंध की मृत्यु हो जायगी।

६. शिशुपाल : अहम के विकृत हो जाने की समस्या का निरूपण

अब शिशुपाल के आध्यात्मिक अर्थ पर विचार करें। शिशुपाल व्यक्ति के विकृत अहम् अर्थात् अहंकार का प्रतीक है। जैसे जरासंध के रूप में हमारे समक्ष प्राण शक्ति का तामसिक प्रादर्श (model) प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार शिशुपाल तामसिक अहंकार का प्रादर्श है। इसी तथ्य को प्रकाशित करने के लिए उसके भी जन्म के संबंध में संकेतों से युक्त एक कहानी कही गई है (२.४३)

जन्म के समय इस बालक के तीन आँखे व चार भुजाएँ थीं और वह गधे की रेकने की आवाज में भयंकर घोष कर रहा था। माता श्रुतश्रवा, (श्रुतश्रवा शब्द का अर्थ है—अन्तःश्रुत, अंदर की आवाज) पिता चेदिराज दमघोष (दमघोष=जिसने उस आवाज को दबा दिया हो) ने अन्य भाई बंधुओं सहित भय-विहळ हो उसे त्याग देने का निश्चय किया। उस समय आकाशवाणी हुई, ‘शिशु का पालन करो, यह श्रीसम्पन्न और महाबली होगा।’ आकाशवाणी ने पुनः कहा, ‘इसकी मृत्यु का निमित्त वह बनेगा जिसकी गोद में इसके अतिरिक्त दोनों हाथ व तीसरा नेत्र विलीन हो जायेंगे।’ कुछ काल उपरान्त जब श्रीकृष्ण ने इस बालक को गोद में लिया तो अतिरिक्त हाथ और तीसरा नेत्र विलीन हो गये। कहानी का संकेत यह है कि मनुष्य में जीवात्मा यद्यपि परमात्मा का अंश है, किन्तु परमात्मा ने उसे अपनी सारी शक्तियाँ नहीं प्रदान की हैं। भगवान विष्णु के चार हाथों में जो शंख, चक्र, गदा, पदम हैं वे उनकी चार क्रियात्मक (operative) शक्तियाँ हैं। वेद और पुराणों में दिशाओं को देवों/देवी-देवताओं की भुजाओं से और उनकी चेतन शक्तियों को उनके हाथों में ग्रहण किये गये चिन्हों/आयुधों से निरूपित किया गया है। (ऋग्वेद, विष्णु पुराण, ललिता सहस्रनाम इत्यादि ग्रंथों के तत्संबंधी मंत्रों को भारतीय प्रतीक विद्या, डॉ. जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद (पृष्ठ ५७, २.१६, २२४) में उद्धृत किया गया है।) इनके द्वारा वे इस जगत का संचालन कर रहे हैं। इन प्रतीकों की सरल व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं—शंख प्रतीक है उनकी ज्ञान शक्ति/सर्वज्ञता का, चक्र प्रतीक है सतत परिवर्तन/मृत्यु रूप उनकी प्रकृति शक्ति का, गदा और

पद्म प्रतीक हैं उनकी नियामक शक्ति रूप दुःख-कष्ट तथा सुख-शांति का। तीन नेत्र प्रतीक हैं काल के तीन आयाम-भूत, भविष्य और वर्तमान के। श्रीकृष्ण की गोद में शिशुपाल के दो अतिरिक्त हाथ और नेत्र के विलोपित हो जाने के वर्णन से यहाँ परमात्मा और जीवात्मा की तुलना प्रस्तुत की गई है। जीवात्मा परमात्मा का अंश अवश्य है किन्तु एक अल्पांश इकाई में समग्र के सभी गुण नहीं होते इसे भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक दर्शन दोनों स्वीकार करते हैं। जल के द्रवीय, पिण्डीय अथवा वायव्य (गैसीय) गुण जल के अणु को प्राप्त नहीं हैं। गीता में भगवान् ने कहा है (१.४ व १.५) कि सब भूत यद्यपि मेरे अंश हैं, तथापि मैं सारे गुणों के साथ भूतों में स्थित नहीं हूँ भूतों में स्थित मेरा आत्मा भूतों का धारण पोषण और भूतों को उत्पन्न करने वाला नहीं है। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत भी जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व और भिन्नता का ऐसा ही प्रतिपादन करता है। शिशुपाल के जो दो हाथ और एक नेत्र लुप्त हुए वे किन शक्तियों को, और शेष दो हाथ, दो नेत्र किन शक्तियों को निरूपित करते हैं, इसे समझने का अब हम प्रयास करें। मनुष्य को ज्ञान अर्जन करने की ओर कर्म करने की जो क्षमताएँ प्राप्त हुई हैं उन दोनों का समन्वित सदुपयोग करने की बात गीता, भागवत, योग-वाशिष्ठ, ईशोपनिषद् जैसे सभी प्रमुख ग्रंथों में स्थापित की गई है। वस्तुतः मनुष्य को इन शक्तियों के अर्जन और उपयोग करने की जो स्वतंत्रता या आयाम दिये गये हैं उनके प्रतीक हैं शिशुपाल के दो शेष हाथ। परमात्मा के शंख रूप सर्व और अखण्ड ज्ञान का एक अल्पांश बुद्धि-विवेक की और उनकी चक्ररूप प्रकृति शक्ति का क्षुद्रांश हमें कृति/कर्म शक्ति की क्षमताओं के रूप में प्राप्त हुआ है जिनका सदुपयोग करके हम इन्हें उनसे और अधिक मात्रा में भी प्राप्त कर सकते हैं। गदा और पद्म के रूप में दण्ड और पुरस्कार के विधान का संचालन उन्होंने अपने पास रखा है। इसी प्रकार काल के तीन आयामों में से भविष्य का ज्ञान उन्होंने मनुष्य को प्रदान नहीं किया।

परमात्मा के क्षुद्र अंश के रूप में जीवात्मा का एक गुण परमात्मा के तदनुरूप गुण से कुछ भिन्न भी हो जाता है। जैसे अत्यंत लघु (नेनोमीटरिक)

कर्णों के रूप में पदार्थ के कुछ गुण मूल पदार्थ से भिन्न हो जाते हैं वैसी ही स्थिति 'अहम् भाव' गुण के संबंध में बन जाती है। परमात्मा सार्वलौकिक अहम् है तो जीवात्मा उसका क्षुद्र अंश 'मैं हूँ' रूप में अहम् भाव है। यह जब शरीर में केन्द्रित हो जाता है तो तमस रूप घोर स्वार्थ में बदल जाता है, जब मन में क्रियाशील होता है तो राजसिक हो जाता है और बुद्धि (ज्ञान) के साथ क्रियाशील होकर जाति प्रेम, देशप्रेम, अथवा मानव प्रेम के रूप में प्रकट होता है। नवजात बालक शिशुपाल वस्तुतः 'अहम्' का ही रूप था और आकाशवाणी के निर्देश – 'शिशु का पालन करों' – का तात्पर्य है कि अहम अपने आप में हेय नहीं है। इस शुद्ध अहम् का परमात्मा विनाश नहीं, प्रेम रूप में उसका विस्तार चाहता है। उससे वह जगत में श्रेष्ठ क्रियाएँ सम्पन्न कराकर विकास के धर्मचक्र को गति दिलाना चाहता है। किन्तु यदि कोई जीवात्मा इससे भटक जाता है और अहंकार रूप गहरे अज्ञानकूप में गिर जाता है तो परमेश्वर ही उस अहंकार का नाश करते हैं।

चेदिनरेश शिशुपाल का जीवन इस दूसरे पक्ष का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन्द्रप्रस्थ यज्ञ की अतिथि सभा में मुख्य अतिथि का सम्मान न मिलने पर वह जिस प्रकार महान योद्धा भीष्म, अर्जुन, श्रीकृष्ण और यज्ञमान युधिष्ठिर पर बरसे और गालियाँ दी वह उसके अहंकार का अंधापन था। अहंकार में द्रूबा उसका जीवन कितना स्वेच्छाचारी और कदाचारी हो गया था उसका कच्चा चिट्ठा श्रीकृष्ण ने उस सभा में सुनाया है जब उसने श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए ललकारा – 'जनार्दन! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ आओ मेरे साथ युद्ध करों' (२.४५.२)। कथा में सौ अपराध क्षमा करने की बात और सुदर्शन चक्र का आवाहन करके उससे शिशुपाल का मस्तक छेदन करने का वर्णन कथा का आध्यात्मिक अर्थ प्रेषित करने के लिये किया गया है। शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने का अर्थ है जीवन में अनुभवों से परिवर्तन हो सकने की संभावना के परिप्रेक्ष्य में परमेश्वर हमारे अहंकार जनित अपराधों का तत्काल दण्ड नहीं दे देते। वे तभी हस्तक्षेप करते हैं जब अहंकार धर्म पथ के मार्ग में चट्टानी बाधा बन जाय, अन्यथा अहंकार का शमन परिस्थितियों वश भी होता है, यह हम अपने अनुभव से

भी जानते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा सुदर्शन चक्र का आवाहन करके उससे अहंकार रूप शिशुपाल का वध करने का अर्थ है कि निरन्तर चल रहे संसार चक्र से यदि हमारे अहंकार का शमन नहीं हो पाता है तो परम चेतन शक्ति स्वयं उस चक्र का संचालन अपने हाथ में लेकर ऐसी परिस्थितियों का आयोजन करती है जिससे समष्टि विकास की बाधा और व्यक्ति के अहंकार का शमन, दोनों कार्य सम्पन्न हो जावें।

निष्कर्ष : इस प्रकार मन, प्राण और अहंकार की तमस शक्तियों का इन्हीं क्षेत्रों की सदशक्तियों के द्वारा शमन करवाकर श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ का राजसूय यज्ञ सम्पन्न करवाते हैं अर्थात् सदशक्तियों की सत्ता इन क्षेत्रों पर स्थापित हो जाती है।

किन्तु धर्म स्थापना का कार्य अभी पूरा नहीं होता। एक बड़ी समस्या बुद्धि पर तमस वृत्तियों का आधिपत्य होना है। ये तमस वृत्तियाँ अपने पक्ष के समर्थन में तर्क गढ़कर सद्वृत्तियों को कार्य नहीं करने देतीं। श्रीकृष्ण के द्वारका लौट जाने पर कौरवों द्वारा जुए का छल रचकर पांडवों को इन्द्रप्रस्थ की सत्ता से भी निष्कासित कर देने एवं पांडवों द्वारा १३ वर्ष के वनवास की शर्त पूरी कर देने पर भी कौरवों द्वारा अपने तर्क गढ़ कर राज्य लौटाने से साफ इन्कार करने की जो घटनाएँ वर्णित हैं वे कुत्सित बुद्धि के कार्य करने की इसी शैली को दर्शाती हैं। श्रीकृष्ण युद्ध में पांडवों को पग-पग पर मार्गदर्शन देकर उन्हें हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ के सम्पूर्ण राज्य पर प्रतिष्ठित करा देते हैं, यह उनके धर्म संस्थापना व्रत को प्रकाशित करता है। यहाँ भी श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करते, केवल मार्गदर्शन देते हैं जो गीता में वर्णित उनकी 'महेश्वर' की भूमिका की पुष्टि करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं को जो जीवात्मा का सखा, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और महेश्वर कहा है (९.१८, १३.२२) उसका ही महाभारत युद्ध में इस प्रकार चित्रण किया गया है।